र्ष ३३] * * * [अङ्क

रघुपति राघव राजा राम । पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष २०१६, दिसम्बर १९५९

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें रु० ७.५० विदेशमें रु० १०.०० (१५ शिलिंग)

साधारण प्रति भारतमें .४५ विदेशमें .५६ (१० पैंस)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

व्रजविहारी वंशीधर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

लोभो लुण्टति चित्तवित्तमनिशं कामः पदाऽऽक्राम्यति क्रोधोऽप्युद्धतधूमकेतुधवलो दन्दग्धि दिग्धोऽधिकम् ।
त्वामाश्रित्य नराः शरण्य शरणं सम्प्रार्थयामो वयं मग्नां मानवतां समुद्धर महामोहाम्बुधौ माधव ॥

वर्ष ३३ | गोरखपुर, सौर पौष २०१६, दिसम्बर १९५९ | संख्या १२ | पूर्ण संख्या ३९७

व्रजविहारी वंशीधर

सजल-जलद-नीलाभ श्याम वपु मुनि-मन-मोहन ।
अमित शरद शशि निन्दक मुख मनहर अति सोहन ॥
कुंचित कुंतल कृष्ण अपरिमित मधुकर-मद-हर ।
रत्नमालयुत कमल-कुसुम-शिखिपिच्छ मुकुट वर ॥
चित्त-वित्त-हर नयन, रत्न कुण्डल श्रुति राजत ।
मुक्तामणि-वनमाल विविध कल कंठ विराजत ॥
रत्नमयी मुँदरी, कंकण, भुजबन्द भव्य अति ।
वंशी धर कर-कंज भर रहे सुर सुललित गति ॥
कटि पट पीत परम सुन्दर पग नूपुरधारी ।
मृदु मुसकान विचित्र नित्य व्रज-विपिन विहारी ॥

याद रक्खो—जिसको जल्दी यात्रा पूरी करके अपने घर पहुँचना है, जिसको पल-पलमें घरकी याद आती है और घरके लिये जिसकी व्याकुलता बढ़ रही है, वह रास्तेके विलम्बको कैसे सहन करेगा। वह न तो रास्तेमें किसीमें ममता करके किसीके मोहमें फँसेगा, न किसीसे जरा भी लड़-झगड़कर अपने समयको खोयेगा तथा अपने मार्गमें रुकावट पैदा करेगा और न कहीं इधर-उधर भटकेगा और अटकेगा ही। वह सबसे मेल रखता हुआ अपने लक्ष्यपर ध्यान रखते हुए सीधा अपनी राहपर चलता रहेगा। इसी प्रकार यदि तुम्हें जीवनके चरम तथा परम लक्ष्य श्रीभगवान्‌के धाम पहुँचना है, भगवान्‌को प्राप्त करना है तो इस बातको कभी न भूलकर सावधानी तथा शीघ्रताके साथ आगे बढ़ते चले जाओ।

याद रक्खो—तुम यहाँ जिस घरको अपना घर कहते हो, वह तुम्हारा घर नहीं है, रेलके डिब्बेके समान यात्रामें बैठनेका स्थान है, या किसी समय रास्तेमें विश्रामके लिये किसी धर्मशाला या वेटिंग रूममें ठहरते हो, वैसे ही कुछ समयके लिये ठहरनेका स्थान है। तुम्हारा यह शरीर यात्रा-शरीर है और तुम्हारा जीवनयापन तथा तुम्हारी सारी क्रियाएँ चलना है। यदि तुम अपने लक्ष्यको—भगवान्‌को कभी न भूलते हुए सदा निर्लेप तथा सावधान रहकर भगवान्‌की ओर चलते रहोगे तो यह मानव-शरीर तुम्हें निश्चय ही वहाँ पहुँचानेमें समर्थ होगा; पर यदि तुमने यात्राको स्थायी निवास मान लिया, रास्तेमें बैठने या ठहरनेके स्थानरूप इस घरको अपना घर मान लिया, किसीमें ममता जोड़ ली और किसीसे द्वेष कर लिया और यदि इन्द्रियोंके भोगोंमें अटककर इधर-उधर भटक गये तो तुम्हारी यह यात्रा सफल तो होगी ही नहीं, तुम्हारे मानव-जीवनका उद्देश्य तो पूरा होगा ही नहीं, बल्कि उल्टे मार्गपर चलकर तुम भगवान्‌से और भी दूर पहुँच जाओगे।

याद रक्खो—यदि ममतावश तुम कहीं किसी प्राणि-पदार्थमें मोहित हो गये, भोगोंमें आसक्त हो गये तो बुरी तरह फँस जाओगे, फिर निकलना अत्यन्त कठिन हो जायगा। और यदि कहीं द्वेष करके लड़-झगड़ बैठे तो वैसे ही नयी विपत्तिसे घिर जाओगे, जैसे रेलके डिब्बेमें या राहमें कहीं किसीसे लड़ाई-झगड़ा हो जानेपर फौजदारीमें मुकदमा चल जाता है, रुपये खर्च होते हैं और जेलकी सजा भुगतनी पड़ती है। यात्रा ही नहीं रुकती, उल्टी विपत्तियाँ झेलनी पड़ती हैं, वैसा ही मानव-जीवनकी इस यात्रामें भी हो सकता है। अतएव न कहीं ममतामें बँधकर राग करो, न द्वेष करो। न किसीमें मोह करो, न किसीसे लड़ो-झगड़ो। जैसे बुद्धिमान् यात्री रास्तेमें सबसे प्रेमका सम्बन्ध रखता हुआ अपनी यात्रा सुखपूर्वक पूरी करता है, इसी प्रकार तुम भी अपनी इस महायात्राको सावधानीके साथ पूर्ण करो।

याद रक्खो—मानव-शरीर जहाँ प्रयत्न करनेपर भगवत्प्राप्तिका, मोक्षका परम साधन है, वहाँ वही कर्म-शरीर होनेके कारण विपरीत कर्म करनेपर बड़े भारी बन्धनका और नरकयन्त्रणाका कारण बन सकता है। दूसरे शरीरोंमें यह बात नहीं है; पर यहाँ तो यदि सफलताकी ओर नहीं अग्रसर हुए तो घोर विफलता प्राप्त होगी और अनेकों जन्म-मरणके नये चक्रमें फँस जाना पड़ेगा।

याद रक्खो—तुम संसारमें मानव-जीवनमें आये ही हो—भगवत्प्राप्तिके लिये, भोगके लिये नहीं। भोग तो अनेक योनियोंमें प्राप्त होते रहते हैं। पशु-पक्षियोंकी योनिमें और देव-राक्षसादिकी योनिमें बहुत अधिक प्राप्त होते हैं। भगवत्प्राप्तिका साधन तो इसी एक मानव-शरीरमें ही सुलभ है। अतएव यदि तुम इस परम उद्देश्यकी सिद्धिके लिये अपने जीवनको इस कल्याणमय साधनमें न लगा देते हो तो तुम्हारी मूर्खताकी सीमा नहीं है। तुम जान-बूझकर हाथमें आये हुए स्वर्ण-अवसरको ही नहीं खो देते हो—वरं महान् हानिके पात्र बनते हो। अतएव सावधानीसे बिना अटके-भटके भगवान्‌की ओर बढ़ते रहो।

'शिव'

गीता पढ़नेके लाभ

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीमद्भगवद्गीता एक परम रहस्यमय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सार्वभौम ग्रन्थ है। यह साक्षात् भगवान्‌की दिव्य वाणी है, उनके हृदयका उद्गार है। इसका महत्त्व बतलानेकी वाणीमें शक्ति नहीं है। इसकी महिमा अपरिमित है, यथार्थमें इसका वर्णन कोई नहीं कर सकता। शेष, महेश, गणेश, दिनेश भी इसकी महिमाको पूरी तरहसे नहीं कह सकते, फिर मनुष्यकी तो बात ही क्या है। इतिहास-पुराण आदिमें जगह-जगह इसकी महिमा गायी गयी है, किंतु उन सबको एकत्र करनेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी महिमा इतनी ही है; क्योंकि उसकी महिमाका कोई पार नहीं है।

गीता आनन्द-सुधाका सीमारहित छलकता हुआ समुद्र है। इसमें भावों और अर्थोंकी इतनी गम्भीरता और व्यापकता है कि मनुष्य जितनी ही बार इसमें डुबकी लगाता है, उतनी ही बार वह नित्य नवीन आनन्दको प्राप्तकर मुदित और मुग्ध होता है। रत्नाकर सागरमें डुबकी लगानेवाला चाहे रत्नोंसे वञ्चित रह जाय, पर इस दिव्य रसामृत-समुद्रमें डुबकी लगानेवाला कभी खाली हाथ नहीं निकलता। इसकी सरस और सार्थ सुधा इतनी स्वादु है कि उसके ग्रहणसे नित्य नया स्वाद मिलता रहता है। रसिकशेखर श्यामसुन्दरकी इस रसीली वाणीमें इतनी मोहकता और इतना स्वाद भरा है कि जिसको एक बार इस अमृतकी बूँद प्राप्त हो गयी, उसकी रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है।

गीता एक सर्वमान्य और प्रमाणस्वरूप अलौकिक ग्रन्थ है। एक छोटे-से आकारमें इतना विशाल योग-भक्ति-ज्ञानसे पूर्ण ग्रन्थ संसारकी प्रचलित भाषाओंमें दूसरा कोई नहीं है। इसमें सम्पूर्ण वेदोंका सार संग्रह किया हुआ है। इसकी संस्कृत बहुत ही मधुर सरस, सरल और रुचिकर है। इसकी भाषा बहुत ही उत्तम एवं रहस्ययुक्त है। दुनियाकी किसी भी भाषामें ऐसा सुबोध ग्रन्थ नहीं है। मनुष्य थोड़ा अभ्यास करनेसे भी सहज ही इसको समझ सकता है। परंतु इसका आशय इतना गूढ़ और गम्भीर है कि आजीवन निरन्तर अभ्यास करते रहनेपर भी उसका अन्त नहीं आता, वरं प्रतिदिन नये-नये भाव उत्पन्न होते रहते हैं; इससे वह सदा नवीन ही बना रहता है।

गीतामें सभी धर्मोंका सार भरा हुआ है। संसारमें जितने भी ग्रन्थ हैं, उनमें गीता-जैसे गूढ़ और उन्नत विचार कहीं दृष्टिगोचर नहीं होते। गीताके साथ तुलना की जाय तो उसके सामने जगत्‌का समस्त ज्ञान तुच्छ है। गीता वर्तमान समयमें भी शिक्षित, अशिक्षित भारतीय या भारतेतर सभी समुदायोंके लिये सर्वथा उपयुक्त ग्रन्थ है। गीता-जैसा अपूर्व उपदेश और विलक्षण एकता तथा समता कहीं नहीं दिखायी पड़ते। गागरमें सागरकी भाँति थोड़ेमें ही अनन्त तत्त्व-रहस्यसे भरा हुआ ग्रन्थ अन्य नहीं देखनेमें आता।

गीताका उपदेश बहुत ही उच्चकोटिका है। गीतामें सबसे ऊँचा ज्ञान, सबसे ऊँची भक्ति और सबसे ऊँचा निष्कामभाव भरा हुआ है। गीताके उपदेशको देखकर मनुष्यके हृदयमें स्वाभाविक ही यह [illegible] पड़ता है कि यह मनुष्यरचित नहीं है!

गीता एक उच्चकोटिका दर्शन-शास्त्र है। यह सिद्धान्त-रत्नोंका सागर है। इसके अध्ययनसे नित्य नये उच्चकोटिके भाव-रत्न प्राप्त होते रहते हैं। गीता[illegible] श्रद्धा-प्रेमपूर्वक गायन करनेसे इतना रस आता है [illegible] उसके सामने सारे रस फीके हैं।

गीता मनुष्यको नीचे-से-नीचे स्थानसे उठा[illegible]

ऊँचे-से-ऊँचे परमपदपर आरूढ़ करानेवाला एक अद्भुत प्रभावशाली ग्रन्थ है। मनुष्य जब कभी किसी चिन्ता, संशय और शोकमें मग्न हो जाता है और उसे कोई रास्ता दिखायी नहीं पड़ता, उस समय गीताके श्लोकोंके अर्थ और भावपर लक्ष्य करनेसे वह निश्चिन्त, निःसंशय और शोकरहित होकर प्रसन्नता और शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

गीतामें बहुत-से ऐसे श्लोक हैं, जिनमेंसे एक श्लोकका या उसके एक चरणका भी यदि मनुष्य अर्थ और भाव समझकर अध्ययन करे और उसके अनुसार अपना जीवन बना ले तो उसका निश्चय ही उद्धार हो सकता है। गीतामें मनुष्यमात्रका अधिकार है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥
(गीता ३। ३१)

'जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस सिद्धान्तका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं।'

यहाँ भगवान्ने 'मानवाः' कहकर यह स्पष्ट व्यक्त कर दिया है कि यह एक जातिविशेष या व्यक्तिविशेषके लिये ही नहीं है, इसमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। प्रत्येक वर्ण, आश्रम, जाति, धर्म और समाजका मनुष्य इसका अध्ययन करके अपना कल्याण कर सकता है।

आध्यात्मिक दृष्टिसे सारी मानवजातिपर ही गीताका बहुत प्रभाव पड़ा है। भगवान् श्रीकृष्णका हिंदूजातिमें अवतार हुआ था, इसलिये लोग गीताको प्रायः हिंदुओंका ही धर्मग्रन्थ समझते हैं, पर वास्तवमें यह केवल हिंदुओंके ही लिये नहीं है, ईसाई, मुसलमान आदि सभी धर्मावलम्बियोंके लिये और धर्मको न माननेवालोंके लिये भी समानरूपसे कल्याणका मार्ग दिखानेवाला प्रकाशमय सूर्य है। केवल भारतवासियोंके

...भी ... किया है। मनुष्योंकी ... गन्धर्व, यक्ष, राक्षस आदि जितने ... हैं, उन सभीके लिये यह कल्याणमय भण्डार है।

कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि गीता तो केवल संन्यासियोंके लिये है, किंतु ऐसा समझना गलत है; क्योंकि अर्जुनने कहा था कि गुरुजनोंको न मारकर मैं भिक्षाका अन्न खाना कल्याणकारक समझता हूँ (गीता २। ५), किंतु भीख माँगकर खाना क्षत्रियका धर्म नहीं, संन्यासीका धर्म है। इससे सिद्ध हुआ कि अर्जुन गृहस्थाश्रमको छोड़कर—संन्यासाश्रम ग्रहण करके भीख माँगकर खाना अच्छा समझते थे, पर भगवान्ने उनकी इस समझकी निन्दा की और 'क्षत्रियके लिये धर्मयुद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है (गीता २। ३१)' कहकर उन्हें धर्मयुद्धमें लगाया। अर्जुन गृहस्थी थे और गीताका उपदेश सुननेके बाद भी आजीवन गृहस्थी ही रहे। इससे गीता केवल संन्यासियोंके ही लिये है—यह सिद्ध नहीं होता, बल्कि यही सिद्ध होता है कि गीता संन्यासी-गृहस्थी सभी मनुष्योंके लिये है।

अतः गीताशास्त्र सभीके लिये इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला होनेसे यह सबके लिये सर्वोत्तम परम धर्ममय ग्रन्थ है। इसलिये सभी मनुष्योंको गीताका अर्थ और भाव समझते हुए अध्ययन करना चाहिये। गीताके अध्ययनसे मनुष्यके शरीर, वाणी, मन और बुद्धिकी उन्नति होती है, इस लोकमें धन, जन, बल, मान और प्रतिष्ठाकी प्राप्ति एवं परलोकमें परम श्रेयमय परमात्माकी प्राप्ति होती है।

गीताके अध्ययन-अध्यापन और उसके अनुसार आचरण करनेसे अनेकों ऋषियोंको और अर्जुन, संजय आदि गृहस्थोंको उत्तम गति मिली। स्वामी श्रीशंकरा-

चार्यजी, श्रीरामानुजाचार्यजी, श्रीज्ञानेश्वरजी आदि महानुभावोंको सर्वमान्य लौकिक, पारमार्थिक श्रेष्ठ पदकी प्राप्ति हुई एवं महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक आदिको बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई । अतः गीताके अध्ययन, अध्यापन और उसके अनुसार आचरण करनेसे मनुष्यको इस लोक और परलोकमें श्रेयकी प्राप्ति होती है ।

कोई भी मनुष्य क्यों न हो, जिसकी ईश्वर-भक्तिमें और गीताशास्त्रको सुननेमें रुचि है, वही इसका अधिकारी है । ऐसे अधिकारी मनुष्यको गीता सुनानेवाला मनुष्य मुक्त हो जाता है, वह ईश्वरका अत्यन्त प्यारा बन जाता है । भगवान्‌ने कहा है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
(गीता १८ । ६८)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है ।'

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥
(गीता १८ । ६९)

'उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं ।'

अतः हमलोगोंको गीताशास्त्रका अध्ययन-अध्यापन श्रद्धा-भक्तिपूर्वक बहुत उत्साह और तत्परताके साथ करना चाहिये ।

गीताके अध्ययन करनेका फल और महत्त्व वर्णन करते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥
(गीता १८ । ७०)

'जो पुरुष इस धर्ममय, हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसी मेरी मान्यता है ।'

अर्थ और भावको समझकर गीताका अभ्यास करनेपर अन्य शास्त्रोंके अध्ययनकी आवश्यकता नहीं रहती । श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता ॥
(महा० भीष्म० ४३ । १)

'गीताका ही भलीभाँति गान करना चाहिये अर्थात् उसीका भलीभाँति श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण करना चाहिये, फिर अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है ।'

यहाँ 'पद्मनाभ' शब्दका प्रयोग करके श्रीवेदव्यासजीने यह व्यक्त किया है कि यह गीता उन्हीं भगवान्‌के मुखकमलसे निकली है, जिनके नाभिकमलसे ब्रह्माजी प्रकट हुए और ब्रह्माजीके मुखसे वेद प्रकट हुए, जो सम्पूर्ण शास्त्रोंके मूल हैं । अतः संसारमें जितने भी शास्त्र हैं, उन सब शास्त्रोंका सार गीता है—'सर्वशास्त्रमयी गीता' (महा० भीष्म० ४३ । २) । दुनियामें जो किसी भी धर्मको माननेवाले मनुष्य हैं, उन सभीको यह समानभावसे स्वधर्म-पालनमें उत्साह दिलाती है, किसी धर्मकी निन्दा नहीं करती । इसमें कहीं किसी सम्प्रदायके प्रति पक्षपात नहीं है ।

गीता सारे उपनिषदोंका सार है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

'सम्पूर्ण उपनिषद् गौके समान हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण दूध दूहनेवाले हैं, कुन्तीपुत्र अर्जुन बछड़ा हैं, महत्त्वपूर्ण गीताका उपदेशामृत ही दूध है और उत्तम बुद्धिवाले पुरुष ही उसके पीनेवाले हैं ।'

ऊँचे-से-ऊँचे परमपदपर आरूढ़ करानेवाला एक अद्भुत प्रभावशाली ग्रन्थ है। मनुष्य जब कभी किसी चिन्ता, संशय और शोकमें मग्न हो जाता है और उसे कोई रास्ता दिखायी नहीं पड़ता, उस समय गीताके श्लोकोंके अर्थ और भावपर लक्ष्य करनेसे वह निश्चिन्त, निःसंशय और शोकरहित होकर प्रसन्नता और शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

गीतामें बहुत-से ऐसे श्लोक हैं, जिनमेंसे एक श्लोकका या उसके एक चरणका भी यदि मनुष्य अर्थ और भाव समझकर अध्ययन करे और उसके अनुसार अपना जीवन बना ले तो उसका निश्चय ही उद्धार हो सकता है। गीतामें मनुष्यमात्रका अधिकार है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥
(गीता ३ । ३१)

'जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस सिद्धान्तका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं।'

यहाँ भगवान्ने 'मानवाः' कहकर यह स्पष्ट व्यक्त कर दिया है कि यह एक जातिविशेष या व्यक्तिविशेषके लिये ही नहीं है, इसमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। प्रत्येक वर्ण, आश्रम, जाति, धर्म और समाजका मनुष्य इसका अध्ययन करके अपना कल्याण कर सकता है।

आध्यात्मिक दृष्टिसे सारी मानवजातिपर ही गीताका बहुत प्रभाव पड़ा है। भगवान् श्रीकृष्णका हिंदूजातिमें अवतार हुआ था, इसलिये लोग गीताको प्रायः हिंदुओंका ही धर्मग्रन्थ समझते हैं, पर वास्तवमें यह केवल हिंदुओंके ही लिये नहीं है, ईसाई, मुसलमान आदि सभी धर्मावलम्बियोंके लिये और धर्मको न माननेवालोंके लिये भी समानरूपसे कल्याणका मार्ग दिखानेवाला प्रकाशमय सूर्य है। केवल भारतवासियोंके लिये ही नहीं, सम्पूर्ण पृथ्वीपर निवास करनेवाले सभी मनुष्योंके लिये भगवान् श्रीकृष्णने इस गीताका उपदेश किया है। मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस आदि जितने भी बुद्धियुक्त प्राणी हैं, उन सभीके लिये यह कल्याणमय भण्डार है।

कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि गीता तो केवल संन्यासियोंके लिये है, किंतु ऐसा समझना गलत है; क्योंकि अर्जुनने कहा था कि गुरुजनोंको न मारकर मैं भिक्षाका अन्न खाना कल्याणकारक समझता हूँ (गीता २ । ५), किंतु भीख माँगकर खाना क्षत्रियका धर्म नहीं, संन्यासीका धर्म है। इससे सिद्ध हुआ कि अर्जुन गृहस्थाश्रमको छोड़कर—संन्यासाश्रम ग्रहण करके भीख माँगकर खाना अच्छा समझते थे, पर भगवान्ने उनकी इस समझकी निन्दा की और 'क्षत्रियके लिये धर्मयुद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है (गीता २ । ३१)' कहकर उन्हें धर्मयुद्धमें लगाया। अर्जुन गृहस्थी थे और गीताका उपदेश सुननेके बाद भी आजीवन गृहस्थी ही रहे। इससे गीता केवल संन्यासियोंके ही लिये है—यह सिद्ध नहीं होता, बल्कि यही सिद्ध होता है कि गीता संन्यासी-गृहस्थी सभी मनुष्योंके लिये है।

अतः गीताशास्त्र सभीके लिये इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला होनेसे यह सबके लिये सर्वोत्तम परम धर्ममय ग्रन्थ है। इसलिये सभी मनुष्योंको गीताका अर्थ और भाव समझते हुए अध्ययन करना चाहिये। गीताके अध्ययनसे मनुष्यके शरीर, वाणी, मन और बुद्धिकी उन्नति होती है, इस लोकमें धन, जन, बल, मान और प्रतिष्ठाकी प्राप्ति एवं परलोकमें परम श्रेयमय परमात्माकी प्राप्ति होती है।

गीताके अध्ययन-अध्यापन और उसके अनुसार आचरण करनेसे अनेकों ऋषियोंको और अर्जुन, संजय आदि गृहस्थोंको उत्तम गति मिली। स्वामी श्रीशंकरा-

चार्यजी, श्रीरामानुजाचार्यजी, श्रीज्ञानेश्वरजी आदि महानुभावोंको सर्वमान्य लौकिक, पारमार्थिक श्रेष्ठ पदकी प्राप्ति हुई एवं महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक आदिको बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई । अतः गीताके अध्ययन, अध्यापन और उसके अनुसार आचरण करनेसे मनुष्यको इस लोक और परलोकमें श्रेयकी प्राप्ति होती है ।

कोई भी मनुष्य क्यों न हो, जिसकी ईश्वर-भक्तिमें और गीताशास्त्रको सुननेमें रुचि है, वही इसका अधिकारी है । ऐसे अधिकारी मनुष्यको गीता सुनानेवाला मनुष्य मुक्त हो जाता है, वह ईश्वरका अत्यन्त प्यारा बन जाता है । भगवान्‌ने कहा है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
(गीता १८ । ६८)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है ।'

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥
(गीता १८ । ६९)

'उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं ।'

अतः हमलोगोंको गीताशास्त्रका अध्ययन-अध्यापन श्रद्धा-भक्तिपूर्वक बहुत उत्साह और तत्परताके साथ करना चाहिये ।

गीताके अध्ययन करनेका फल और महत्त्व वर्णन करते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥
(गीता १८ । ७०)

'जो पुरुष इस धर्ममय, हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसी मेरी मान्यता है' ।'

अर्थ और भावको समझकर गीताका अभ्यास करनेपर अन्य शास्त्रोंके अध्ययनकी आवश्यकता नहीं रहती । श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता ॥
(महा० भीष्म० ४३ । १)

'गीताका ही भलीभाँति गान करना चाहिये अर्थात् उसीका भलीभाँति श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण करना चाहिये, फिर अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है ।'

यहाँ 'पद्मनाभ' शब्दका प्रयोग करके श्रीवेदव्यासजीने यह व्यक्त किया है कि यह गीता उन्हीं भगवान्‌के मुखकमलसे निकली है, जिनके नाभिकमलसे ब्रह्माजी प्रकट हुए और ब्रह्माजीके मुखसे वेद प्रकट हुए, जो सम्पूर्ण शास्त्रोंके मूल हैं । अतः संसारमें जितने भी शास्त्र हैं, उन सब शास्त्रोंका सार गीता है—'सर्वशास्त्रमयी गीता' (महा० भीष्म० ४३ । २) । दुनियामें जो किसी भी धर्मको माननेवाले मनुष्य हैं, उन सभीको यह समानभावसे स्वधर्म-पालनमें उत्साह दिलाती है, किसी धर्मकी निन्दा नहीं करती । इसमें कहीं किसी सम्प्रदायके प्रति पक्षपात नहीं है ।

गीता सारे उपनिषदोंका सार है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

'सम्पूर्ण उपनिषद् गौके समान हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण दूध दूहनेवाले हैं, कुन्तीपुत्र अर्जुन बछड़ा हैं, महत्त्वपूर्ण गीताका उपदेशामृत ही दूध है और उत्तम बुद्धिवाले पुरुष ही उसके पीनेवाले हैं ।'

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है। शास्त्रोंमें गङ्गास्नान-का फल मुक्ति बतलाया गया है। परंतु गङ्गामें स्नान करनेवाला स्वयं मुक्त हो सकता है, वह दूसरोंको संसार-सागरसे तारनेमें असमर्थ है। किंतु गीतारूपी गङ्गामें गोते लगानेवाला स्वयं तो मुक्त होता ही है, वह दूसरोंको भी तार सकता है। गङ्गा तो भगवान्‌के चरणोंसे उत्पन्न हुई है; किंतु गीता साक्षात् भगवान्‌के मुखारविन्दसे निकली है। फिर गङ्गा तो जो उसमें जाकर स्नान करता है, उसीकी मुक्ति करती है; किंतु गीता तो घर-घरमें जाकर उन्हें मुक्तिका मार्ग दिखलाती है।

गीता गायत्रीसे भी बढ़कर है। गायत्री-जप करने-वाला भी स्वयं ही मुक्त होता है; पर गीताका अभ्यास करनेवाला तो तरन-तारन बन जाता है। मुक्तिका तो वह सदाव्रत खोल देता है।

गीताको स्वयं भगवान्‌से भी बढ़कर कहा जाय तो भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी; क्योंकि स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम्।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम्॥
(वाराहपुराण)

'मैं गीताके आश्रयमें रहता हूँ, गीता मेरा उत्तम घर है, गीताके ज्ञानका सहारा लेकर ही मैं तीनों लोकोंका पालन करता हूँ।'

गीता ज्ञानका सूर्य है। भक्तिरूपी मणिका भण्डार है। निष्काम-कर्मका अगाध सागर है। गीतामें ज्ञान, भक्ति और निष्कामभावका तत्त्व-रहस्य जैसा बतलाया गया है, वैसा किसी ग्रन्थमें भी एकत्र नहीं मिलता।

आत्माके उद्धारके लिये तो गीता सर्वोपरि ग्रन्थ है ही, इसके सिवा, यह मनुष्यको सभी प्रकारकी उन्नतिका मार्ग दिखलानेवाला ग्रन्थ भी है। जैसे—

शरीरकी उन्नतिके लिये गीतामें सात्त्विक भोजन बतलाया गया है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
(१७। ८)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

भाव यह है कि इस प्रकारके सात्त्विक आहारके सेवनसे आयु, अन्तःकरण, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ती है। किंतु इसके विपरीत, शरीरको हानि पहुँचानेवाले राजस-तामस भोजनका त्याग करनेके लिये निषेधरूपसे उनका वर्णन किया गया है (गीता १७। ९-१० में देखिये)।

उत्तम आचरणोंकी शिक्षाके लिये शारीरिक तप बतलाया गया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
(गीता १७। १४)

'देवता, ब्राह्मण, माता-पिता आदि गुरुजनों और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

वाणीको संयत और उन्नत बनानेके लिये वाणीका तप बतलाया गया है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
(गीता १७। १५)

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नामजपका अभ्यास है—वही वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है।'

मनको उन्नत बनानेके लिये मानसिक तप बतलाया गया है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥
(गीता १७ । १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

इसी प्रकार बुद्धिको उन्नत बनानेके लिये सात्त्विक ज्ञान और सात्त्विकी बुद्धिका वर्णन किया गया है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
(गीता १८ । २०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान।'

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
(गीता १८ । ३०)

'हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।'

इसके विपरीत, राजस-तामस ज्ञानका अ० १८ श्लो० २१-२२ में और राजसी-तामसी बुद्धिका अ० १८ श्लो० ३१-३२ में त्याग करनेके उद्देश्यसे वर्णन किया गया है।

दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन मनुष्यकी उन्नतिमें महान् हानिकर हैं, अतः उनको आसुरी सम्पदा बतलाकर उनका सर्वथा त्याग करनेके लिये कहा गया है (देखिये गीता अ० १६, श्लो० ४ से २१ तक)।

इसके सिवा, उन छब्बीस गुणों और आचरणोंको, जो मनुष्यकी उन्नतिमें मूल कारण हैं, सर्वथा उपादेय और मुक्तिके साधन बतलाकर उनका दैवीसम्पदाके नामसे वर्णन किया गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥
(गीता १६ । १–३)

'भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेदादि शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट-सहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय-भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें स्वार्थ और कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी निन्दादि न करना, सब भूत-प्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्र विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शौचाचार-सदाचार एवं किसीमें शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब अर्जुन! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।'

न्याय प्राप्त होनेपर गीता युद्ध करनेकी भी आज्ञा देती है; किंतु राग-द्वेषसे रहित होकर समभावसे। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
(गीता २ । ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा ।'

इसमें कैसी अद्भुत अलौकिक धीरता, वीरता, [illegible]म्भीरता और कुशलताका रहस्य भरा हुआ है ।

फल, आसक्ति, अहंता, ममतासे रहित होकर संसारके हितके उद्देश्यसे कर्तव्य-कर्म करना गीताका उपदेश है । गीतामें बताये हुए ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग —सब साधनोंका प्रधान उद्देश्य यह है कि सबका परम हित हो । इस उद्देश्यसे स्वार्थ और अभिमान-से रहित होकर सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ त्याग, समता और उदारतापूर्वक प्रेम और विनययुक्त व्यवहार करना चाहिये । उच्चकोटिके साधककी भी समता कसौटी है (देखिये गीता २ । १५, ३८, ४८) । एवं सिद्ध पुरुषकी भी कसौटी समता है (देखिये गीता ५ । १८-१९; ६ । ८-९, १२ । १८-१९; १४ । २४-२५) । अतः सम्पूर्ण क्रियाओं, पदार्थों, भावों और प्राणियोंमें समभाव रखना—यह गीताका प्रधान उपदेश है ।

गीतामें सभी बातें युक्तियुक्त हैं । गीताका सिद्धान्त [illegible] कि न अधिक सोये, न अधिक जागे, न अधिक [illegible] और न लङ्घन ही करे अर्थात् सब कार्य [illegible]युक्त करे; क्योंकि उचित भोजन और शयन न [illegible]रनेसे योगकी सिद्धि नहीं होती । इसीसे भगवान्ने [illegible]हा है—

[illegible]काहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
[illegible]कस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥
(गीता ६ । १७)

'दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है ।'

गीतामें सात्त्विक, राजस, तामस क्रिया, भाव और पदार्थका वर्णन किया गया है । उनमें सात्त्विक धारण करनेके लिये और राजस-तामस त्याग करनेके लिये कहा गया है ।

यद्यपि उत्तम आचरण और अन्तःकरणका उत्तम भाव—दोनोंको ही गीताने कल्याणका साधन माना है किंतु प्रधानता भावको दी है ।

इस प्रकार अनेक प्रकारके उत्तम-उत्तम रहस्ययुक्त एवं महत्त्वपूर्ण भाव गीतामें भरे हुए हैं । हमलोग धन्य हैं जो हमें अपने जीवनकालमें गीता-जैसा सर्वोत्तम ग्रन्थ देखने-सुनने और पढ़ने-पढ़ानेके लिये मिल रहा है । हमें इस सुअवसरसे लाभ उठाना चाहिये—गीताका तत्परताके साथ श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अध्ययन करना चाहिये ।

गीताका अध्ययन करनेवालेको चाहिये कि वह उसे बार-बार पढ़े, हृदयङ्गम करे और मनमें धारण करे एवं उसके प्रत्येक शब्दका इस प्रकार मनन करे कि वह उसके अन्तःकरणमें प्रवेश कर जाय । भगवान्के शरण होकर इस प्रकार अध्ययन करनेसे भगवत्कृपासे गीताका तत्त्व-रहस्य सहज ही समझमें आ सकता है । फिर उसके विचार और गुण तथा कर्म स्वयमेव गीताके अनुसार ही होने लगते हैं । गीताके अनुसार आचरण हो जानेसे मनुष्यके गुण, आत्मबल, बुद्धि, तेज, ज्ञान, आयु और कीर्तिकी वृद्धि होती है तथा वह परमपदस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

अच्छे बननेका उपाय

(लेखक—श्री१००८ श्रीसीताराम दास ॐकारनाथजी)

अच्छे बनोगे, इसकी चिन्ता क्या है ?

—बतलाओ, कैसे अच्छा बनूँगा ?

किसीका भी दोष न देखो, इसीसे अच्छे बन जाओगे। जो दूसरोंके दोषोंको देखता है, वह उन दोषोंको आकर्षितकर स्वयं दोषमय बन जाता है। यदि सचमुच अच्छे बनना चाहते हो तो अदोषदर्शी बनो। दूसरोंके दोष देखनेके समान कोई पाप नहीं है। जो अन्याय करता है, वह तो करता ही है, तुम उसका अन्याय देखकर, ढोल बजाकर, अपनी आँख और जीभको कलङ्कित करते हो, इसीसे रोते-कलपते हो। आँखें मिली हैं सबको भगवान्‌के रूपमें दर्शन करनेके लिये, प्रणाम करनेके लिये। जीभ मिली है श्रीभगवान्‌के नाम-रूप-लीला-गुणका गान करनेके लिये, उस आँख और उस जीभको यदि दूसरोंके दोष देखने और बतलानेमें लगाते हो तो बतलाओ तुमसे बड़ा अभागा संसारमें दूसरा कौन है ?

—मुझे दूसरेके दोष दीखते हैं। तब कैसे नहीं कहूँगा ?

दूसरोंका दोष देखनेके पहले तुम अपने दोष देखो। जीवनभर कितने सैकड़ों दोष कर चुके हो, अब भी करते हो। अपने दोषोंको एक-एक करके चुन-चुनकर दूर कर डालो। बस, बिल्कुल निर्मल हो जाओगे, फिर दूसरोंके दोष नहीं देख पाओगे। तुम्हारे भीतर दोष है, इसीसे दूसरोंके दोष देख पाते हो। जिस दिन तुम दोषशून्य हो जाओगे, उस दिन किसीका दोष नहीं देख पाओगे। मनुष्य जिस प्रकार बारीकीसे दूसरोंके दोष देखता है, उसी प्रकार जिस दिन वह अपने दोषोंको देखेगा, उसी दिन निर्मल—एकदम दोष-शून्य हो जायगा। शिक्षित लोगोंमें भी ऐसे अभागे आदमी मिलते हैं, जो दूसरोंके लेखोंमें केवल दोष ही निकालते हैं। सम्भव है, दूसरे लेखकके लेखमें कितने ही सुन्दर भाव हैं, पर उन्हें न देखकर कहाँ दोष है, कौन लेखक कहाँ भूल करता है, वे यही खोजते रहते हैं और उसको जन समाजमें प्रकाशित करके अपना कृतित्व प्रदर्शन करते हैं। शिव, शिव! पर ही परमेश्वर हैं, उनका दोष देखना कृतित्व नहीं, महान् अकृतित्व है।

—बतलाओ फिर, कैसे हमारे दोष दूर होंगे ?

न चक्षुषा मनसा वा ना वाचा दूषयेदपि।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा दूषणं व्याहरेत् क्वचित्॥

(अध्यात्ममुक्तावलीधृत हारीत गीता)

चक्षु, मन या वाक्यके द्वारा किसीका दोष-दर्शन, चिन्तन या वर्णन न करे, प्रत्यक्षमें हो या परोक्षमें हो। कभी किसीकी निन्दा न करे।

—इच्छा न होते हुए भी दूसरोंके दोष दीख जाते हैं, यह दारुण रोग कैसे दूर होगा ?

रजोगुण और तमोगुणसे ही दोष दीखते हैं।

गुणे प्रवृद्धे वर्द्धन्ते गुणा दोषजयप्रदाः।
दोषे विवृद्धे वर्द्धन्ते दोषा गुणविनाशनाः॥

(योगवासिष्ठ २। १६। ३२)

संयमके अभ्यास और सात्त्विक आहार आ[illegible] द्वारा जब सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, तब दोष नष्ट [illegible] जाते हैं और राजसिक-तामसिक आहार तथा असंयमसे गुणोंका नाश करनेवाले दोष अत्यन्त बढ़ जाते हैं।

यथाऽऽत्मनि पुत्रे च सर्वभूतेषु यस्तथा।
हितकामो हरिस्तेन सर्वदा तोष्यते सुखम्॥

(विष्णुपुराण अंश ३ अ० ८).

जैसे मनुष्य अपनी और अपने पुत्रकी हितकामना करता है, उसी प्रकार जब वह सर्वभूतोंका हितकामी बनता है, तब उसके द्वारा हरि सर्वदा तुष्ट होते रहते हैं।

यथा पुमान् न स्वाङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु क्वचित्।
पारक्यं बुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः॥
(श्रीमद्भा० ४। ७। ५०)

पुरुष जिस प्रकार अपने सिर, हाथ आदि अङ्गोंको दूसरेका नहीं समझता, उसी प्रकार जो मत्परायण (भगवत्परायण) हैं, मुझ (भगवान्)को परात्पर समझते हैं, वे किसी भी प्राणीके ऊपर 'यह प्राणी तथा इसके सुख-दुःख आदि मुझसे भिन्न हैं'—ऐसी परकीय बुद्धिका आरोप नहीं करते।

—दोषदर्शन करना अतिशय दोषावह है। यह तो समझता हूँ, तथापि दोषदर्शन कर बैठता हूँ—इससे छूटनेका क्या उपाय है?

इस युगमें उपायकी तो कोई चिन्ता नहीं है, केवल भगवान्‌का नाम लो।

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥

अत्यन्त दुष्ट कलियुगका यह एक महान् गुण है कि श्रीकृष्णका नाम-कीर्तन करनेसे सारे बन्धनोंसे मुक्त होकर मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

अनुक्षण कर तुमि नामसंकीर्तन।
हेलाय लभिबे प्रिय प्रेम महाधन॥

तुम प्रतिक्षण नाम-संकीर्तन करो, प्रिय-प्रेमरूपी महाधन सहज ही पा जाओगे।

केवल नाम लो, नाम लेते-लेते वैराग्य स्वयं आ उपस्थित होगा।

वैराग्यबुद्धिस्सततमात्मदोषव्यपेक्षकः।
आत्मबद्धविनिर्मोक्षं करोत्यचिरादेव सा॥
(अ० सू० धृ० महाभारत)

विषयोंसे वैराग्य उपस्थित होते ही अपने ही दोषोंकी ओर दृष्टि जाती है। और वह अति शीघ्र ('अहं-मम' रूप) बन्धनसे मुक्त कर देती है। नाम लो और सबको भगवत्स्वरूप समझकर प्रणाम करो।

उठते और बैठते, खाते, पीते, सोते सारे दिन।
सतत नाम-संकीर्तन करता, तर जाता तुरंत वह जन॥
नामरूपसे हैं जगमें अवतीर्ण स्वयं वे श्रीभगवान।
नाम-गानमें, नाम-दानमें सौंपो तुम अपने मन-प्रान॥

'वासुदेवः सर्वम्'

एक वही आसमानमें भी भासमान ईश,
उसके समान कौन, वह असमान है।
कौन है जहान वह, जिसमें जहाँ न वह,
किसमें कहाँ न वह, सबमें समान है॥
दृष्टिमें है छाया, सारी सृष्टिमें समाया सदा,
वह परमाणु, वह महत् महान् है।
अलख अरूप वही, सकल सरूप वही,
अग-जग बीच जगमग भगवान् है॥

—'राम'

कर्म-प्रवाह

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

कः कस्य हेतुर्दुःखस्य कश्च हेतुः सुखस्य वा ।
स्वपूर्वार्जितकर्मैव कारणं सुखदुःखयोः ॥

श्रीलक्ष्मणजी गुहराजसे कहते हैं कि कौन किसके दुःख-का हेतु है ? तथा कौन सुखका हेतु ? अर्थात् दूसरा कोई दूसरेके सुख-दुःखमें कारण नहीं होता, पूर्वजन्मोंमें किये हुए अपने ही पुण्य-पापात्मक कर्म मनुष्यको सुख-दुःखका भोग प्रदान करते हैं । इसलिये—

सुखं वा यदि वा दुःखं स्वकर्मवशगो नरः ।
यद् यद् यथागतं तत्तद् भुक्त्वा स्वस्थमना भवेत् ॥

सुखका भोग आये या दुःखका । दोनों ही अपने कर्मके योगसे आते हैं । किये हुए कर्मोंका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं । इसलिये सुखके या दुःखके जो भोग, जब जिस रूपमें तथा जिस निमित्तसे भी आयें, उनको शान्तिसे भोग लेना चाहिये और चित्तको विचलित न होने देकर उसे स्वस्थ रखना चाहिये; क्योंकि प्रारब्धके भोग अनिवार्य हैं ।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने चित्तकी इसी स्वस्थताके विषयमें कहा है—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥
(५ । २०)

जो मनुष्य प्रिय अथवा अनुकूल संयोगोंमें हर्षको प्राप्त नहीं होता तथा अप्रिय अर्थात् प्रतिकूल संयोगोंमें उद्वेगको प्राप्त नहीं होता, वही पुरुष स्थिरबुद्धिवाला अथवा स्वस्थचित्त कहलाता है । ऐसा ही पुरुष संशयरहित है, वही आत्मज्ञानी है और वही ब्रह्ममें स्थितिवाला कहलाता है । अर्थात् यहाँ सुख-दुःखकी समताको ही मोक्षका द्वार बतलाया है ।

अतएव आज हम कर्मका रहस्य समझनेका प्रयत्न करेंगे, जिससे सुख-दुःखके प्रसङ्गोंमें धैर्य धारण करके चित्तको स्वस्थ रखा जा सके और परिणाममें हम मोक्षके अधिकारी बन सकें ।

कर्म शब्द 'कृ' अर्थात् 'करना' धातुसे बना है । इस-लिये इसका अर्थ कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया—इतना ही होता है । शरीरकी रचना ही ऐसी है कि वह कर्म किये बिना रह नहीं सकता तथा शरीरके निर्वाहके लिये भी कर्म आवश्यक है, ऐसा गीतामें कहा है ।

मनुष्य जबसे समझदार होता है, तबसे मृत्युपर्यन्त जो जो कर्म करता है, उसको 'क्रियमाण' कर्म कहते हैं । क्रिय-माण शब्द कृ धातुके 'कर्मणि' प्रयोगमें वर्तमान कृदन्त है । अतएव इसका अर्थ होता है कि वर्तमान कालमें होनेवाला कर्म ।

क्रियमाण कर्म तो दिन-प्रतिदिन हुआ ही करते हैं । उनमेंसे जिनका फल भोग लिया जाता है, वे तो फल प्रदान करके शान्त हो जाते हैं । शेष कर्म भविष्यमें फल देनेके लिये चित्तमें प्रतिदिन इकट्ठे होते जाते हैं ।

इस प्रकार चित्तमें इकट्ठे होनेवाले कर्म 'सञ्चित' कर्म कहलाते हैं । सञ्चित शब्द सम्‌पूर्वक 'चि' अर्थात् इकट्ठा करना—इस धातुका भूत कृदन्त रूप है । इसलिये इसका अर्थ होता है व्यवस्थापूर्वक इकट्ठे हुए कर्म । ये सञ्चित कर्म अनादिकालसे इकट्ठे होते आ रहे हैं, इसलिये इनका पारावार नहीं होता ।

इन सञ्चित कर्मोंमेंसे जो कर्म फल देनेके लिये तैयार हो जाते हैं, उनको—जीव जब एक शरीर छोड़नेके लिये तैयार होता है, तब—अलग निकाल लिया जाता है और उनके फल भोगने योग्य योनिमें जीव वर्तमान शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है । उस शरीरको धारण करानेवाले वे फल देनेको प्रस्तुत कर्म ही 'प्रारब्ध' कर्म कहलाते हैं । प्रारब्ध शब्द 'प्र' तथा 'आ' उपसर्गपूर्वक 'रभ्' अर्थात् आरम्भ करना, क्रिया पदका भूत कृदन्तरूप है । इसलिये इसका अर्थ होता है कि भूतकालमें किये हुए कर्म, जिनका फल वर्तमान शरीरमें भोगना है ।

अब कर्मका स्वरूप देखिये । प्रारब्धकर्मसे इस शरीरका निर्माण हुआ है, इसलिये पहले इसका विचार कीजिये ।

प्रारब्ध कर्मका अर्थ है, अनेक जन्मोंमें जीवके किये हुए कर्मोंमेंसे जो कर्म फल देनेके लिये तैयार हैं और जिनका भोग भोगनेके लिये जीवने यह शरीर धारण किया है । इस लिये यहाँ जिन-जिन सुख-दुःखोंका भोग भोगनेके लिये यह शरीर उत्पन्न हुआ है, उन-उन सुख-दुःखोंको भोग लेनेपर छुटकारा मिलेगा; क्योंकि भूतकाल किसीके लौटानेके मत्नका नहीं है । भविष्यका निर्माण करना तो अपने हाथमें है, पर जो हो गया, वह तो हो ही गया ।

जो तीर कमानसे छूट गया, वह तो छूट ही गया। उसको किसी भी प्रकारसे लौटाया नहीं जा सकता। वह तो अपना काम करके ही शान्त होगा।

बबूलका बीज बो दिया तो फिर उसमेंसे बबूल ही उपजेगा तथा फलस्वरूप काँटे और अनन्त बबूल पैदा करनेकी शक्तिवाले बीज पैदा हुए बिना न रहेंगे। लाख प्रयत्न करनेपर भी कोई उनसे आम या जामुन पैदा नहीं कर सकेगा।

इसी प्रकार जिन-जिन कर्मोंका फल भोगनेके लिये यह देह बना है, उन-उन फलोंको भोगे बिना छुटकारा नहीं है। तब फिर सुखका भोग प्राप्त होनेपर फूल जाना व्यर्थ है और दुःखके भोगके समय उदास होकर पड़ जाना भी व्यर्थ है। इस विषयको समझाते हुए नीतिकार कहते हैं—

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाप्रियम्।
यथाप्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः॥

सुखका भोग आये या दुःखका, इष्ट-संयोग आये या अनिष्ट-संयोग, उसको सहर्ष स्वीकार कर ले। दुःखके भोगमें घबरा न जाय तथा सुखके भोगमें उद्धत न हो, दोनोंको शान्तिसे भोग ले और हृदयमें क्षोभ न होने दे। जिस कर्म-फलको भोगनेके लिये शरीर उत्पन्न हुआ है, उसके भोगे बिना भला कैसे चल सकता है?

अब जब शरीर धारण कर लिया, तब शरीरके निर्वाहके लिये देहधारीको प्रतिदिन कर्म तो करने ही पड़ेंगे। इस प्रकार प्रतिदिन होनेवाले कर्म क्रियमाण कर्म कहलाते हैं। जैसे प्रारब्धका भोग भोगनेमें मनुष्य पराधीन है, वैसे ही क्रियमाण कर्म करनेमें मनुष्य सोलहों आने पूर्ण स्वतन्त्र है। कोई भी ऐसी सत्ता नहीं, जो उसके मार्गको रोक सके। हाँ, इतना अवश्य है कि वासनाएँ उसको अपनी ओर खींचती हैं; परंतु आकर्षणके वशमें होना न होना, मनुष्यके अपने हाथमें है। उदाहरणार्थ, एक शराबीने किसी शुभ घड़ीमें यह निश्चय कर लिया कि चाहे जो हो जाय पर अबसे मैं शराबको स्पर्श भी नहीं करूँगा। तथापि जब वह शराबकी दूकानके पाससे निकलता है, तब स्वभाववश वह दूकानकी ओर जानेके लिये ललचाता है; परंतु उस ललचके वश होना या न होना, उसके अपने अधिकारमें है। दृढ़ निश्चयवाला मनुष्य अपनी टेकपर दृढ़ रहता है और ढीले-ढाले निश्चयवाला मनुष्य अपनी टेक नहीं निभा सकता। श्रीभगवान्‌ने इस रहस्यको समझाते हुए अर्जुनसे कहा है—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥
(गीता ६। ३६)

अर्थात् जो मनुष्य ढीले-ढाले स्वभाववाला है; वह मनो-निग्रह नहीं कर सकता—मनके ऊपर काबू नहीं रख सकता; परंतु जो मनुष्य दृढ़निश्चयी है, वह विवेकसे अपना कार्य सिद्ध कर सकता है।

अतएव वर्तमान जीवनमें मनुष्य कर्म करनेमें सर्वांशमें स्वतन्त्र है, कोई उसमें बाधक नहीं बन सकता। उसकी इच्छा हो तो सकाम शुभकर्म करके स्वर्गमें जा सकता है और निष्काम शुभकर्मद्वारा चित्त शुद्ध करके मोक्ष प्राप्त करना भी उसकी मर्जीपर है; एवं पापाचरण करके नरककी यन्त्रणा भोगना हो तो उसको भी कोई रोक नहीं सकता। यहाँतक हमने देखा कि मनुष्य भूतकालके निर्माणको किसी भी उपायसे बदल नहीं सकता। परंतु भविष्यका निर्माण करनेमें वह पूर्णतया स्वतन्त्र है।

वर्तमान शरीरके क्रियमाण कर्मको 'पुरुषार्थ' नाम प्रदान किया जाता है। अब यह देखना है कि यह नाम क्यों प्रदान किया जाता है? मनुष्य-जन्म पाकर चार अर्थोंकी सिद्धि करनी पड़ती है; क्योंकि उसके प्रत्येक कर्म एक या दूसरे अर्थकी सिद्धिके लिये होते हैं। मनुष्यके स्थानमें पुरुष शब्द रक्खें तो पुरुषके अपने जीवनकालमें सिद्ध किये जाने-वाले अर्थोंके लिये जो कर्म किये जायँगे, वे 'पुरुषार्थ' कहलायँगे। अर्थात् पुरुषार्थ शब्दका अर्थ क्रियमाण कर्मके सिवा और कुछ नहीं है।

इन चारों पुरुषार्थोंके विषयमें थोड़ा विचार कीजिये। ये हैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमेंसे बीचके दोनों अर्थ और काम तो अधिकांशमें प्रारब्धके अधीन हैं; क्योंकि शरीर तो प्रारब्धका भोग भोगनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है। धर्म और मोक्षके लिये पुरुषार्थका अवलम्बन आवश्यक है; क्योंकि वह प्रारब्धके अधीन नहीं है। यहीं मनुष्य भूल करता है। अर्थ और काम अर्थात् शरीरके भोग जो प्रारब्ध-के अधीन हैं, उनके लिये तो जीवन भर परिश्रम किया करता है, परंतु वे मिलते हैं प्रारब्धके अनुसार ही; तथा धर्म और मोक्ष जो केवल पुरुषार्थसे ही सिद्ध होते हैं, उनमें प्रारब्धका भरोसा करके बैठा रहता है।

अब यदि मनुष्य विवेकसे यह समझ जाय कि शरीरके

भोग या भोगके साधन तो प्रारब्धके अधीन हैं, इनके लिये मनुष्य चाहे जितना ही छटपटाये, विशेष कुछ मिलनेवाला नहीं है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह धर्माचरणके द्वारा मोक्षकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील बने तथा भोगोंकी प्राप्तिमें जो सारा जीवन व्यर्थ नष्ट करता है एवं नीति-अनीतिका ध्यान नहीं रखता, वह न करे। अतएव इस बातको समझानेके लिये दो-एक प्रमाण दिये जाते हैं। जिनके यथार्थ निश्चय करने तथा उसे काममें लानेमें सुविधा हो सकती है।

पातञ्जलयोगदर्शनमें एक सूत्र है—'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः'। अर्थात् जबतक कर्मरूपी मूल है तबतक शरीररूपी वृक्ष उगेगा ही और उसमें जाति, आयु और भोगरूपी फल भी लगेंगे ही। तात्पर्य यह है कि जब जीव एक शरीरको छोड़ता है, तब सञ्चित कर्ममेंसे जो कर्म 'फल देनेके लिये तैयार' होते हैं, उनसे प्रारब्धकी रचना होती है और प्रारब्धके भोगके अनुसार जीवको शरीर और आयुष्यकी प्राप्ति होती है। अर्थात् शरीर, शरीरकी आयु और उसको प्राप्त होनेवाले भोग—ये तीनों ही उसके जन्म लेनेके पहले ही निश्चित हो जाते हैं, इसलिये फिर इनके लिये परिश्रम करना तो व्यर्थ ही है, यह स्पष्ट जान पड़ता है।

ऐसा एक प्रसङ्ग श्रीमद्भागवतमें भी है। श्रीप्रह्लादजी अपने सहपाठियोंसे कहते हैं—

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्।
सर्वत्र लभ्यते दैवाद् यथा दुःखमयत्नतः॥

'दैत्यपुत्रो! शरीरके भोग तो (अर्थ और काम) शरीरकी उत्पत्तिके पहले ही निश्चित हो जाते हैं और इस कारण जैसे दुःख बिना यत्नके ही आ जाता है, उसी प्रकार सुखके भोगके लिये भी कोई विशेष परिश्रम आवश्यक नहीं होता; क्योंकि दोनों प्रकारके भोग शरीरके जन्मके साथ ही निश्चित हो गये होते हैं।

यहाँतक यह निश्चय हो गया कि पुरुषार्थ करना है तो धर्म और मोक्षके लिये; अर्थ और कामके लिये नहीं; क्योंकि इनका निर्माण तो शरीरके जन्मके साथ ही हो गया होता है।

यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिये, जिससे इस विषयमें मनुष्यको जो भ्रम हो गया है, वह दूर हो जाय। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि प्रारब्ध और पुरुषार्थ—दोनोंमें सदा ही विरोध रहता है। पर यह बात सत्य नहीं है। आज जो क्रियमाण 'पुरुषार्थ' कर्म होता है, वही कल सञ्चितमें मिल जाता है और वही कर्म अपने पाक-कालमें प्रारब्ध बनता है और उसको भोगनेके लिये उत्पन्न शरीरको भोग प्रदान करता है। अतएव पुरुषार्थ ही कालान्तरमें प्रारब्ध बनता है, तब फिर वह यदि उसका विरोध करता है तो वह आप अपना विरोध करता है, जो कभी सम्भव नहीं। इसलिये प्रारब्ध और पुरुषार्थ—दोनोंमें विरोध नहीं हो सकता। बल्कि दोनोंके कार्यक्षेत्र विभिन्न होनेके कारण वे परस्पर टकरा भी नहीं सकते। प्रारब्ध तो वर्तमान शरीरको भोग प्रदान करता है और पुरुषार्थ भावीकी सृष्टि करता है, जिससे कालान्तरमें यही पुरुषार्थ प्रारब्ध बनकर शरीरको भोग प्रदान करेगा।

अब सञ्चित कर्मके विषयमें विचार कीजिये। वह कर्मका अक्षय कोष है। जहाँ कर्म अनादिकालसे इकट्ठे होते आ रहे हैं और उसमेंसे भोग भी होते जाते हैं, तथापि अबतक वे समाप्त नहीं हुए, तात्पर्य यह कि भोगते-भोगते वे समाप्त हो जायँ, ऐसी बात नहीं है।

यहाँ कुछ विचारवान् सज्जन पूछते हैं कि यदि कर्मका फल भोगनेके लिये ही जीवको शरीर धारण करना पड़ता है तो सृष्टिके प्रारम्भमें कर्म कहाँसे आया? पहले शरीर हुआ या कर्म? यदि कहो कि पहले शरीर हुआ तो कर्मके भोगके बिना शरीरका निर्माण ही नहीं होता और यदि कहो कि पहले कर्म हुआ तो उस कर्मको कब किसने किया?—इसका उत्तर संक्षेपमें इतना ही है कि हमारे शास्त्र सृष्टिको अनादि मानते हैं। इसलिये 'अनादिका प्रारम्भ कैसे हुआ'—यह प्रश्न ही नहीं बनता। तथापि शास्त्रोंने इस प्रश्नका समाधान अनेक रीतिसे किया है। योगवासिष्ठने इस विषयको इस प्रकार समझाया है—

'सृष्टिके आरम्भ-कालमें ब्रह्म ही सृष्टिरूप हो जाता है जैसे ब्रह्मा आदि जो ब्रह्मरूप ही हैं, सृष्टिके आदिकालमें प्रकट हो जाते हैं, उसी प्रकार दूसरे जीव, जो ब्रह्मरूप ही लाखों और करोड़ोंकी संख्यामें प्रकट हो जाते हैं, अज्ञानके आवरणके कारण अपने ब्रह्मभावको भूलकर अप[ने]को ब्रह्मसे पृथक् समझते हैं, वे रजोगुण और तमोगुणके द्वा[रा] मिश्रित सत्त्वगुणके परिणामसे होनेवाले जीवभावको स्वीका[र] कर, इस जगत्की वासनाओंके संस्कारसे युक्त होकर प[र] मर जाते हैं। पश्चात् उनका जन्म प्रारब्ध कर्मका भोगनेके लिये होता है; क्योंकि स्वयं ब्रह्मरूप होते हुए इस बातको भूलकर वे जड देह आदिमें आत्मबुद्धि करके जन्म-मरणके चक्रमें घूमा करते हैं। समय आनेपर जब ब्र[ह्म]

स्वयं अपने मूलस्वरूपको देखते हैं और निश्चय करते हैं कि वे स्वयं ब्रह्मरूप या परमात्मरूप हैं, तब उनका जन्म-मरणका चक्र बंद हो जाता है'। इस स्थितिको मोक्ष या मुक्ति कहते हैं।' (योगवासिष्ठ नि० उ० सर्ग १४२)

कर्मसम्बन्धी एक बात यहाँ समझने योग्य है। नवीन कर्म केवल मनुष्य-शरीरसे ही बनते हैं; दूसरी योनियोंके शरीर तो केवल भोग भोगने मात्रके लिये ही हैं। देव-शरीर भी भोग भोगनेके लिये ही मिलता है और भोग समाप्त हो जानेके बाद उसको छोड़कर फिर मर्त्यलोकमें जन्म लेना पड़ता है। इसलिये मनुष्य-शरीर ही एक ऐसा है, जिससे नवीन कर्म हो सकते हैं, अतएव इस शरीरका बहुत बड़ा महत्त्व है; क्योंकि मनुष्य-शरीरसे ही नर नारायण हो सकता है।

अब यह समझनेकी बात है कि कौन-से कर्म सञ्चितमें इकट्ठे होते हैं और कौन-से नहीं। जिन कर्मोंके करते समय 'मैं यह कर्म कर रहा हूँ,' ऐसा अहङ्कार होता है तथा जो कर्म फलकी आशासे किये जाते हैं, इसी प्रकारके कर्म सञ्चितमें इकट्ठे होते हैं; क्योंकि वे भविष्यमें फल देनेवाले हैं। इसलिये ज्ञानीके द्वारा तथा नासमझ बालकके द्वारा होनेवाले कर्म सञ्चितमें इकट्ठे नहीं होते; क्योंकि उस समय उनमें कर्तापनका अहंकार नहीं होता तथा फलकी आशा भी नहीं होती*।

हमने देखा कि सञ्चित कर्म एक अक्षय भण्डार है, भोगके द्वारा जिसका क्षय नहीं हो सकता। फिर कर्मका ऐसा नियम है कि करोड़ों कल्प बीत जानेपर भी भोगे बिना कर्मका नाश नहीं होता।

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।'

सञ्चित कर्मोंका भोगके द्वारा पार पाना कठिन है और भोगे बिना कर्मका नाश नहीं होता। तब तो जीवकी मुक्तिका कोई उपाय ही नहीं बच रहता। अनादिकालसे जो जन्म-मरणरूप संसार चला आ रहा है, उसका कारण यही है। इसका उपाय भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें स्पष्ट बतलाया है, उसे देखिये—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥
(४। ३७)

भगवान् कहते हैं कि जैसे लौकिक अग्नि काष्ठको जला डालती है। मोटा, पतला, गीला, सूखा, मकान बनानेकी लकड़ी या जलावन आदिका कुछ भी विचार अग्नि नहीं करती, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि सञ्चित कर्ममात्रको जला डालती है। शुभ, अशुभ या मिश्र—सभी कर्मोंको निःशेष जला डालती है। ऐसी स्थितिमें फिर जीवको दूसरा शरीर धारण करनेका कोई कारण नहीं रह जाता। प्रारब्ध तो भोगके द्वारा अपने-आप नाशको प्राप्त हो जाता है। उसमें

---

* कर्मका रहस्य संन्यासगीतामें इस प्रकार समझाया गया है। पहले तो, जैसे भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें 'गहना कर्मणो गतिः' कहा है, उसी प्रकार कहते हैं कि कर्मका रहस्य इतना गूढ़ है कि उसका समग्र स्वरूप समझना या समझाना मानव-बुद्धिके [illegible]रे है।

[illegible] सामान्य रीतिसे समझनेके लिये कर्मके तीन प्रकार कहे [illegible] हैं—

(१) 'सहजकर्म', समष्टिसत्तासे संचालित कर्म, जो कर्म सहज [illegible] स्वभाव या प्रकृतिकी प्रेरणासे होते हैं। यहाँ जीवन-सामग्रीमें केवल प्रारब्धका भोग होता है, अतः उनमें कर्तृत्वका अभिमान या फलाशा नहीं होती और इस कारण इस प्रकारके कर्म जीवके लिये [illegible]न्धनकारक नहीं होते। ८४ लाख योनियोंमेंसे ८३,९९,९९९ योनियाँ सहज कर्मकी अधिकारिणी हैं।

(२) 'जैव-कर्म'—जीवभावसे होनेवाले कर्म। यहाँ देहाध्यास होता है, इसलिये कर्तापनका अभिमान भी रहता है तथा फलाशा भी होती है। मैं शरीर हूँ, इस अभिमानके साथ शरीरको सुख पहुँचानेके लिये जो कर्म होते हैं, वे सब 'जैव-कर्म' कहलाते हैं। इस प्रकारके कर्म जीवके बन्धनके कारण बनते हैं और इन्हींके कारण मनुष्यको जन्म-जन्मान्तरमें भोग भोगने पड़ते हैं तथा लोक-लोकान्तरमें घूमना पड़ता है। जैसे—

करोति दुःखेन हि कर्मतन्त्रं शरीरभोगार्थमहर्निशं नरः।
(अ० रा०)

(३) 'ऐश-कर्म'—ईश्वरकी इच्छासे विराट केन्द्रद्वारा होनेवाले कर्म। इस कोटिमें जीवन्मुक्त पुरुषोंके द्वारा होनेवाले कर्मोंकी गणना होती है। जीवन्मुक्तके शरीरको बचाये रखनेके लिये प्रारब्ध-भोगके सिवा दूसरी कोई सामग्री नहीं। अतः जीवन्मुक्त कर्म करते हुए भी अकर्ता है, भोक्ता होते हुए भी अभोक्ता है। इसलिये ऐसे कर्म भी बन्धनकारक नहीं होते। जैसे—

देहस्तु भिन्नः पुरुषात्समाक्ष्यते को वात्र भोगः पुरुषेण भुज्यते।
(अ० रा०)

तो कुछ करना ही नहीं रहता। क्रियमाण ज्ञानीको फल नहीं देता; क्योंकि ज्ञानीके कर्म कर्तृत्वाहंकाररहित तथा फलाशा-रहित हुआ करते हैं और सञ्चित, जैसा कि हम बतला चुके हैं, ज्ञान होनेपर नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार ज्ञानी मुक्त हो जाता है। उसको दूसरा शरीर धारण करना नहीं पड़ता।

श्रुति भी कहती है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'। इसका यही आशय है कि ज्ञानके द्वारा संचित कर्मका नाश करनेके सिवा मुक्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है।

इस छोटेसे निबन्धमें हमने देख लिया कि—

(१) जो-जो सुख-दुःखके भोग भोगनेके लिये यह शरीर उत्पन्न हुआ है, उन-उन भोगोंको भोगे बिना छुटकारा नहीं है। इसलिये यथाप्राप्त भोगोंको शान्तिसे भोग लेनेमें ही बुद्धिमानी है।

(२) वर्तमान जीवनमें कर्म करनेमें मनुष्य पूर्ण रीतिसे स्वतन्त्र है। कोई भी ऐसी शक्ति नहीं, जो उसके मार्गको रोक सके। इसलिये अपनी इच्छाके अनुसार मनुष्य अपने भविष्यका निर्माण कर सकता है।

(३) सञ्चित कर्मका ढेर भोगनेसे समाप्त होनेवाला नहीं है। इसलिये जन्म-मरणके बन्धनसे छूटना हो तो ज्ञान, तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान प्राप्त करके संचित कर्मको दग्ध कर देना चाहिये। इस बातका समर्थन करती हुई श्रुति भगवती कहती है—

अहं ब्रह्मेति विज्ञानात् कल्पकोटिशतार्जितम्।
संचितं विलयं याति प्रबोधात् स्वप्नकर्मवत्॥

'मैं आत्मा हूँ या मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकारका यथार्थ ज्ञान होनेपर करोड़ों कल्पोंके इकट्ठे सञ्चित कर्म वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे निद्रासे जागनेवालेके स्वप्नके कर्म क्षणभरमें नाशको प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक देहधारी कर्मके प्रवाहमें पड़ा हुआ है। प्रवाह गोलाकार है, इसलिये इसका कभी अन्त नहीं होता। नदी समुद्रमें गिरती है तो उसका अन्त हो जाता है, परंतु गोलाकारमें बहनेवाले प्रवाहका अन्त नहीं होता। वृक्ष और बीजके समान कर्मसे शरीर और शरीरसे कर्मका प्रवाह अनादिकालसे चला आ रहा है, तब समझदार आदमीको क्या करना चाहिये? इसका उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें इस प्रकार देते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥
(४। १९)

'जिसके सारे कर्म कामनाओं तथा संकल्पोंसे रहित होते हैं और जिसके सञ्चित कर्म ज्ञानाग्निसे दग्ध हो जाते हैं, उसको विद्वान् लोग पण्डित कहते हैं।'

सारांश यह है कि वही मनुष्य बुद्धिमान् या चतुर है, जिसने ज्ञानरूपी अग्निसे अपने समस्त सञ्चित कर्मको दग्ध कर दिया है और जीवनकालमें जो कर्म करता है, वह फलाशा तथा अहंकारका त्याग करके करता है, अतः वे कर्म भुने बीजके समान भावी अङ्कुर (फल) उत्पन्न नहीं कर सकते। फलतः वह जन्म-मृत्युरूपी भव-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। मनुष्य-शरीरकी सार्थकता यही है।

इस सारे निबन्धका सार व्यासजीके समान केवल आधे श्लोकमें देना हो तो इस प्रकार दे सकते हैं—

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तमिह विस्तरैः।
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन॥

वर्तमान कालमें कर्म करनेमें मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र है; परंतु किये हुए कर्मोंका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

विरह-कष्टसे त्राण करो

अर्पण मेरे हैं सदा तुममें जीवन-प्राण।
तुम्हीं एक आधार हो, तुम्हीं परम कल्याण॥
तुम ही मेरी परम गति, प्रीति बिना परिमाण।
मिलो तुरत, मेरा करो विरह-कष्टसे त्राण॥

—अकिंचन

चरम कल्याण

(लेखक—स्वामी श्रीनिष्किञ्चनजी महाराज)

मनुष्यको छोड़कर दूसरे प्राणियोंमें अपना कल्याण-चिन्तन करनेकी योग्यता नहीं है। वे सामयिक प्रयोजनके अनुसार आहार, निद्रा, भय और विहारमें रत रहते हैं। इसके अतिरिक्त कल्याणकी कोई बात वे सोच नहीं सकते। भूख लगनेपर वे भोजनकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करते हैं। अतएव जो-जो प्राणी मांसाहारी होते हैं, वे अपनी अपेक्षा दुर्बल प्राणियोंकी हत्या करके अपनी उदरपूर्ति करते हैं। जो मांसाहारी नहीं होते, वे प्राणी अपने-अपने उपयोगी वनस्पति—जैसे वृक्ष, गुल्म, लता, शस्य आदि भोज्य-पदार्थोंको सर्वत्र घूम-फिर करके प्राप्त कर लेते हैं। बाधा प्राप्त होनेपर वे विक्षुब्ध हो उठते हैं। सामर्थ्य होनेपर बाधाका विनाश करके क्षुधाके निवारणके लिये प्रवृत्त होते हैं। समय-समयपर एक जातिके जीव भी आहार संग्रह करनेमें परस्पर लड़ाई-झगड़ा करने लगते हैं। तात्कालिक भूखकी निवृत्ति ही उनका प्रयोजन होता है। किसी कल्याण-अकल्याणमय फलका विचार उनको नहीं होता। निद्रा और विहारके सम्बन्धमें भी वे तात्कालिक व्यवस्थाके लिये समय-समयपर कलह और विरोध कर बैठते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि कोई-कोई प्राणी, जैसे चींटी, मधुमक्खी आदि आहारका सञ्चय करके रखते हैं। इस क्षेत्रमें उनकी स्वाभाविक जातीय वृत्ति (Instinct) ही कारण होती है। वे भावी कल्याणकी बात सोचकर आहार-संग्रह नहीं करते, वह उनका जातिगत धर्म है। संगृहीत मधु साधारणतः मधुमक्खियाँ खा नहीं पातीं, उसका भोग प्रायः मनुष्य या भालू आदि प्राणी करते हैं। कोई प्राणी शयनके लिये स्थान चुनते हैं, वह भी उनके तात्कालिक सुख-लाभ तथा कष्ट-निवृत्तिकी प्रवृत्तिके कारण होता है, भावी दुःख-निवृत्तिके लिये नहीं। घर बनाना भी उनका जातीय संस्कार होता है। वे भविष्यमें कल्याणके विचारसे घर नहीं बनाते। भविष्यका विचार करके वे कभी अकल्याणकी आशङ्का नहीं करते। विपत्तिको सामने आयी देखते हैं, तब भयभीत होकर भाग जाते हैं।

परंतु मानव-प्राणी उपयुक्त वय प्राप्त होनेपर अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार आत्मकल्याणके लिये यत्न करता है। कुछ ज्ञान होनेपर बालक भी जल जानेके भयसे अग्निका स्पर्श नहीं करता। यह बात नहीं है कि सभी एक ही प्रकारसे अपने-अपने कल्याणकी चेष्टा करते हों; परंतु स्थूलरूपसे सभी मनुष्य कुछ-न-कुछ अपने मङ्गलकी चेष्टा करते हैं, किंतु अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार मनुष्योंकी कल्याण-विषयक व्यक्तिगत धारणा विभिन्न प्रकारकी होती है। एक उदाहरणद्वारा इसको समझाना यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा। नदीके स्रोतके विरुद्ध, अनुकूल वायु न पानेपर बहुधा गुन या रस्सीद्वारा खींचकर नौकाको ले जाना पड़ता है। जो उस गुनको खींचते हैं, उनको नदीके किनारे-किनारे कीचड़में होकर जाते समय बड़ा कष्ट होता है, विशेष करके उस समय जब कि उस कीचड़में काँटे-कंकड़ होते हैं। इस प्रकारके गुन खींचनेवाले एक आदमीको कहते सुना था कि 'आह! खुदा (भगवान्) यदि दिन दे तो नदीके किनारे-किनारे गद्दा बिछाकर कब गुन खींचूँगा।' देखिये, उसकी कैसी कल्याणकी धारणा है! यह भगवत्कृपासे धनी होनेपर भी गुन खींचना नहीं छोड़ेगा, परंतु वह अपने कष्टको सिर्फ कम करना चाहता है। दूसरे उदाहरणसे यह विषय और भी स्पष्ट समझमें आ जायगा। किसी प्रदेश-विशेषमें ग्रामीण लोग प्रायः गुड़ खानेको ही विशेष कल्याण-रूप मानते हैं, कहते हैं 'जो राजा होता है, वह पता नहीं कितना गुड़ खाता है।' इस प्रकार कल्याणकी धारणा व्यक्तिभेद और अवस्थाविशेषमें विभिन्न होती है।

इस प्रकारके उदाहरणोंकी कमी नहीं है, किंतु प्रायः सबके नित्य व्यावहारिक जीवनसे एक दृष्टान्त और देकर समझना है। बच्चे खूब लाल रंगकी झुनझुनीके लिये लालायित रहते हैं। फिर कुछ बड़े होनेपर लड़कपनमें वे उस झुनझुनीसे संतुष्ट नहीं होते; अब उनको रबड़की गेंद, गुब्बारा और गोली आदि चाहिये। परंतु किशोरावस्था आनेपर इन वस्तुओंसे भी काम नहीं चलता; उस समय उनके लिये मैदानमें बेडमिण्टन, वालीबाल, व्यवस्थित फुटबॉल आदि खेलका आयोजन होना चाहिये। यौवनके प्रारम्भसे ही विवाहकी आकांक्षा जाग उठती है, पश्चात् गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेपर अच्छा घर, मोटरकार आदि न मिलनेपर वह समझता है कि कुछ भी कल्याण नहीं हुआ। आयु और अवस्थाके परिवर्तनके साथ-साथ कल्याणके

आदर्श भी बदल जाते हैं। प्रौढ़ और वृद्ध होनेपर सबसे सम्मान, आदर, सेवा-प्राप्ति आदि कल्याणप्रद लगने लगते हैं; परंतु इन सबमें कोई भी किसीके लिये नित्य कल्याण-प्रद नहीं है।

सभी जीव सुख चाहते हैं, आनन्द चाहते हैं; परंतु प्रत्येकका आनन्द समान नहीं है। दुष्ट प्रकृतिके मनुष्य आपात (विषय-) सुखके लिये लालायित रहते हैं। वे पशुके समान भविष्यकी चिन्ता नहीं करते। जैसे भी हो, वे अपनी सुख-सामग्री जुटानेमें ही व्यस्त रहते हैं। इसके लिये वे झूठ, चोरी, ठगी, डकैती, हत्या, बलात्कार आदि कोई भी पाप करनेके लिये प्रस्तुत रहते हैं। वे दूसरेके कल्याणकी बात कभी सोचते ही नहीं। इन्द्रियोंकी सेवामें मत्त रहकर वे उन्हींके ही भोग जुटानेमें लगे रहते हैं। उनका मन इन्द्रियोंका परिचालक न होकर उनका अनुगामी बना रहता है। जोरका तूफान जैसे नौकाको जलमें डुबो देता है, उसी प्रकार वशमें न की हुई इन्द्रियाँ मनुष्यकी बुद्धिको लुप्त कर देती हैं, यही भगवान् श्रीकृष्णने (गीता २। ६७ में) अर्जुनसे कहा है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

इस प्रकारके मनुष्यको पशुकोटिमें रखकर, अब हम शिष्ट प्रकृतिके मनुष्यके सम्बन्धमें आलोचना करेंगे।

इस प्रकारके मनुष्य जानते हैं कि दूसरोंका अनिष्ट करके तथा उन्हें क्लेश पहुँचाकर अपने सुख-साधनकी चेष्टा करना उचित नहीं है। इसमें स्वयं भी बहुत-कुछ दुःख-कष्ट उठाना पड़ता है। कभी शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है, कभी राजदण्डसे दण्डित होकर दुःख उठाना पड़ता है और सदा लोकनिन्दा तथा घृणाका पात्र बनकर समाजमें रहना कठिन—असम्भव हो जाता है। इन सब बातोंका विचार करके ईश्वरमें विश्वास न रखनेवाले लोग भी नीतिवादी होते हैं। जिससे अपने सुख-संग्रहमें दूसरोंको असुविधा न हो, यह लक्ष्यमें रखकर वे लोग शान्तिमय जीवन व्यतीत करनेका प्रयास करते हैं; परंतु इसमें उनकी सुख-प्राप्ति कुछ संकुचित हो जाती है; जिनका ईश्वर और शास्त्रमें विश्वास है, वे पाप-पुण्यका विचार करके संयमकी शिक्षा देते हैं। तथापि लोगोंके दुःख और कष्टमें कमी नहीं है, प्रायः सबको त्रिताप-दग्ध होना पड़ता है। आध्यात्मिक ताप—शारीरिक तथा मानसिक कष्ट प्रायः रहते ही हैं। पीड़ा, नैराश्य—ये सुख-साधन-संग्रहके मार्गके विघ्न हैं; परिवारके अन्य किसीकी भी (स्त्री, पुत्र-पुत्री आदिकी) पीड़ा, पारस्परिक मनोमालिन्य आदि कायिक और मानसिक ताप सभीको भोगने पड़ते हैं। आधिभौतिक ताप अर्थात् पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदिसे प्राप्त होते हैं। जैसे गाय-भैंस आदिके उत्पातसे खेतीको नुकसान, कुत्ते-व्याघ्र आदिके काटनेसे घाव या मृत्यु होती है। आधिदैविक ताप—अर्थात् अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अग्निसे गृह आदिका दाह, भूकम्प, बाढ़, वज्रपात आदिसे बहुधा क्लेश उठाना पड़ता है। उस समय इन सब हानियोंका कारण अपने किये हुए इस जन्मके कर्मोंका फल न सोचकर, शास्त्रोक्त पूर्व-जन्म तथा उनमें किये हुए कर्मोंके फलसे ये दुःख प्राप्त हो रहे हैं, ऐसा विश्वास करके शास्त्रविधिसे उन पापोंकी शान्तिके लिये प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार कर्म-योगको स्वीकार करके लोग दुःख-नाश और सुख-प्राप्तिके लिये ही नहीं, परलोकमें दुःखसे बचने और स्वर्ग-सुख प्राप्त करनेके लिये, शास्त्रीय धर्म-कर्म आदिमें प्रवृत्त होकर पुण्यसञ्चय करते हैं। इन सारे पुण्यसञ्चयकी चेष्टाओं और धर्मके साधनोंके मूलमें रहता है वही भोग, अर्थात् मन और शरीरसे कष्ट न भोगना पड़े, इसी हेतु यह चेष्टा की जाती है। वे यज्ञादि धर्म-कर्मोंके फलस्वरूप इस जन्ममें और फिर स्वर्गमें सुख प्राप्त करनेको ही जीवनका उद्देश्य मानते हैं।

परंतु हम देखते हैं कि धर्म-पालन करनेपर भी इह-जीवनमें नाना प्रकारकी बाधाओं और विपत्तियोंके कारण सुख स्थायी नहीं होता। जब कर्मका मूल भोगेच्छा है, तब पापको पूर्णरूपेण मनसे हटाना बड़ा कठिन है। और भी देखते हैं कि सुखके साथ-साथ दुःख अनुस्यूत रूपमें रहता है। पुत्रकी कामना करके यज्ञानुष्ठान करनेसे यद्यपि पुत्र प्राप्ति होती है, परंतु यदि वह अपने मनके अनुकूल होता, अथवा होकर रोगी या दुष्ट निकल जाता है, अथवा अकाल-मृत्युको प्राप्त हो जाता है तो पुत्रकी प्राप्तिसे सुख कैसे होगा? यह एक उदाहरण है। सबको पुत्रसे ही दुःख होता हो, यह बात नहीं है; परंतु अन्य प्रकारके दुःख भी हैं। संक्षेपमें कह सकते हैं कि नित्य निष्कण्टक सुखकी प्राप्ति, शायद किसीके भी जीवनमें सम्भव नहीं है। दुःखकी छायासे रहित केवल सुख-भोग किसीके जीवनमें नहीं होता। हम बाह्यरूपमें बहुतोंका निरन्तर दुःखरहित

तथा सुख-सम्पन्न भोगी समझ सकते हैं; परंतु यह धारणा भ्रान्त है। 'मुझे कोई भी दुःख नहीं है'—यह बात किसीके भी मुँहसे सुननेमें नहीं आती। जीवनभर दुःखमिश्रणसे रहित केवल सुखका भोगनेवाला आकाशकुसुमके समान असम्भव है।

मान लिया, पर यह तो इह-जीवनकी बात है, स्वर्गसुखमें तो कोई दुःख नहीं है। अतएव धर्म-कर्मके द्वारा पुण्यसञ्चय करके मृत्युके बाद स्वर्ग-सुख प्राप्त करनेकी बात बहुत कुछ सत्य ही है। शास्त्रमें भी लिखा है—

> स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति
> न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
> उभे तीर्त्वाशनायापिपासे
> शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥
> (कठ० १।१।१२)

महर्षि उद्दालकका पुत्र नचिकेता पितृसत्य-पालनके लिये पिताकी अनुमति लेकर जब यमराजके पास जाता है, तब वहाँ शिक्षाकी प्रार्थना करते हुए कहता है कि 'मैं जानता हूँ स्वर्गलोक बड़ा सुखकर है, वहाँ कोई भय नहीं, वृद्धावस्थाका भी भय नहीं है और आप (मृत्यु) का भी भय नहीं है। वहाँ भूख-प्यासके दुःख भी किसीको नहीं होते। सभी शोकमुक्त होकर स्वर्गमें पूर्ण सुख प्राप्त करते हैं।'

परंतु आगे चलकर वही यमराजसे कहता है—

> श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
> सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
> अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
> तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥
> (कठ० १।१।२६)

हे अन्तक या यमराज! आपने जिन स्वर्गके भोगोंकी प्रशंसा की है, वे सब तो क्षणभङ्गुर हैं और मनुष्यकी इन्द्रियोंके तेजको अपहरण करते हैं तथा स्वर्गमें जीवन मर्त्यलोककी तुलनामें दीर्घ होनेपर भी अल्पकालमात्रव्यापी होता है। आपके द्वारा कथित रथादि स्वर्गके वाहन, रमणीय नृत्य-गीत आदि—ये सब कुछ भी मूल्यवान् नहीं हैं। कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य इन सबके द्वारा प्रलोभित नहीं होता।

स्वर्गसुखके अनित्यत्वके सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णने भी गीतामें अर्जुनको और भागवतमें उद्धवको अवगत कराया है। जैसे—

> ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
> मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥
> ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
> क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
> (गीता ९।२०-२१)

यज्ञ-व्रत-दान आदि धर्माचरणसे प्राप्त पुण्यके फलसे देवलोकको प्राप्त होकर धार्मिक लोग देवताओंके समान स्वर्ग-सुख-भोग तो करते हैं, परंतु भोग करते-करते जब संचित पुण्यका क्षय हो जाता है, तब फिर वे स्वर्गसे च्युत होकर पृथ्वीमें लौट आते हैं।

> तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते।
> क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः॥
> कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः।
> देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः॥
> (श्रीमद्भा० ११।१०।२६,२९)

इस वर्णाश्रमरूपी कर्मके योगसे अभय फल प्राप्त नहीं होता। जबतक पुण्यक्षय नहीं होता, तभीतक प्राणी स्वर्गमें आनन्द भोग करता है। पुण्यके समाप्त होनेपर, इच्छा न होते हुए भी, काल-प्रेरित होकर उसे नीचे गिरना पड़ता है। पुनः जिन कर्मोंका फल दुःख होता है, उनको करते हुए वहीं अर्थात् मर्त्यलोकमें पुनः-पुनः देह धारण करता है—अतएव मर्त्यजन्ममें सुख क्या है?' (श्रीठाकुर भक्तिविनोद)

यही कर्मयोग है। 'योग' शब्दसे हठयोग या यम-नियमादि-द्वारा 'अष्टाङ्गयोग' अथवा 'राजयोग' नहीं समझा जाता। परंतु जो कोई भी योग नहीं करते, उनके विषयमें पहले कुछ संकेत कर चुके हैं। वे लोग आपात सुखके कारण, कोई संयम न करके जो सुविधाजनक प्रतीत होता है, वही कर्म करते हैं। वे पापसे नहीं डरते। जो मनमें आता है, करते हैं। उनका कोई 'योग' नहीं होता और जो संयमशील होकर भविष्यमें मङ्गल-प्राप्तिकी चेष्टा करते हैं, वे ही योगसाधक हैं। उनमें जो सुख-भोगको ही मङ्गल समझकर उसकी प्राप्तिके लिये काम-क्रोध आदिको वशमें करके शास्त्रोक्त कर्म करते हैं, वे कर्मयोगी हैं। ये कर्मयोगी अन्तमें जब अनासक्त-भावसे कर्म करनेका सामर्थ्य प्राप्त कर लेते हैं, तब इसमें विशिष्टता प्राप्त करके क्रमशः उन्हें भगवद्भक्तिके पथमें अग्रसर होनेकी योग्यता प्राप्त होती है। गीतामें भगवान्ने यही आदेश दिया है—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥
(गीता ३ । ७)

तथा और भी स्पष्टतः बतलाया है कि इससे भगवन्निष्ठा-जनित शान्ति प्राप्त होती है ।

'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।'

और तब वह प्रकृत ज्ञानकी प्राप्तिमें समर्थ होकर यथार्थ कल्याण प्राप्त करनेमें सफल होते हैं । जैसे—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

भगवान् श्रीकृष्णने जीवके कल्याणके लिये भागवतमें तीन प्रकारके योगोंकी बात उद्धवजीसे कही है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥
(११ । २० । ६)

अधिकारी-भेदसे ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगको कल्याणकामी लोग वरण करते हैं; परंतु सबके मूलमें संयम होता है, संयमके बिना योग नहीं होता । श्रीभगवान्‌ने अर्जुनसे भी यही बात कही है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

यहाँ 'युक्त' अर्थात् योगी और सुखी कहनेमें योगके समान सुखके भी प्रकार-भेद होते हैं । फलाकाङ्क्षासहित कर्मयोग और उसके द्वारा ऐहिक सुख और स्वर्ग-सुखकी प्राप्ति तथा इनके अनित्यत्वके विषयमें ऊपर कह चुके हैं । आगे अन्य दो योगोंके विषयमें विचार करना है ।

जो लोग कर्मयोगके द्वारा प्राप्त कल्याणकी असारताको समझकर विवेकी हो गये हैं और समझते हैं कि भोगके साथ दुःख सदा ही अनुस्यूत रहता है तथा भोग चिरस्थायी नहीं होता, वे निर्विण्ण या वैराग्यवान् होकर भोग-पथ कर्मयोगका त्याग करते हैं । वैराग्यमें भी बहुतेरे शुष्क वैराग्य ग्रहण करते हैं । वे महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यके भक्त, श्रीवृन्दावनके सुप्रसिद्ध षड् गोस्वामीवृन्दके नेता श्रीरूप गोस्वामीपादके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्तिरसामृतसिन्धु' (पूर्व, २ य लहरी, २५४) में कथित—

प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः ।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते ॥

—के अनुसार फल्गु वैराग्य ग्रहण करके भगवान्‌के अर्चन आदिमें श्रद्धा छोड़कर उनका प्रसाद ग्रहण करनेसे वञ्चित हो जाते हैं । 'फल्गु' का अर्थ है अन्तःसार-शून्य । वे ईशोपनिषद् (१ । १) के—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

—इस प्रथम मन्त्रका उल्लङ्घन करके भक्तियोग ग्रहण नहीं करते । वे ज्ञानमार्गी अपने 'ज्ञान' का लक्ष्य भगवद्-ज्ञान न करके समस्त द्वैतभावोंका त्याग कर केवलाद्वैत-साधनाके लिये प्रयत्न करते हैं । इससे सांसारिक दुःखोंकी अनुभूतिसे वे मुक्त होते हैं; परंतु यह श्रेयःप्राप्ति अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य और दुष्कर होती है । बहुतेरे मुक्तिकी अभिलाषा करके भगवत्पादपद्ममें आदर न होनेके कारण इस उच्च पदका संरक्षण करनेमें भी असमर्थ हो जाते हैं । श्रीमद्भागवतमें ब्रह्मादि देवता तथा मुनिगणने सद्योजात श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए उनके विषयमें यही बात कही है—

येऽन्येऽरविन्दाक्षविमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥
(१० । २ । ३२)

अतएव स्पष्ट है कि योगीके लिये भक्तित्याग करनेपर मङ्गलकी प्राप्ति दुरूह हो जाती है ।

भक्तियोगकी शरण जीवके लिये सुगम और फलप्रद है, अतएव सर्वोच्च कल्याणके अभिलाषीके लिये यही सेवनीय है । ब्रह्माजीने अन्यत्र भगवत्स्तुतिमें इसका संकेत किया है—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजितजितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३)

अर्थात् 'भक्तिपूर्वक आपके आश्रित होकर जो आपकी कथा साधुके मुखसे श्रवण करके आपका कीर्तन और स्मरण करते हैं, आप अजित होकर भी उनके वशीभूत हो जाते हैं' श्रीभगवान्‌ने इस बातका स्वयं भी अनुमोदन किया है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥
(श्रीमद्भा० ९ । ४ । ६३)

सनकादि तथा शुकदेवजी आदि महाज्ञानी आत्माराम मुनिगण भी श्रीहरिमें भक्तियोग किया करते हैं।

यद्यपि श्रीभगवान्‌ने उद्धवसे (श्रीमद्भा० ११।२०।६) तीन योगोंकी बात कही है, तथापि 'योग' और 'योगी' शब्दोंके द्वारा साधारणतः एक और योगपथका उन्होंने निर्देश किया है, वह है पतञ्जलि ऋषिका अष्टाङ्गयोग। इसके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि— ये आठ अङ्ग हैं। निःसंदेह ईश्वरप्रणिधान ही इस प्रणालीका मुख्य उद्देश्य है; परंतु इसके द्वारा मध्य मार्गमें कुछ और भी प्राप्य है और वह है विभूति या सिद्धि। इसके द्वारा बहुत शक्तियाँ प्राप्त की जाती हैं। इन शक्तियोंको प्राप्त करके अधिकांश योगी लक्ष्यभ्रष्ट हो जाते हैं। यही बात देवर्षि नारदने व्यासजीसे कही है—

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत् तथाऽऽत्माद्धा न शाम्यति॥
(श्रीमद्भा० १।६।३६)

मुकुन्दकी सेवासे साक्षात्‌रूपमें आत्मशान्ति प्राप्त होती है। अष्टाङ्गयोगके मार्गसे इसकी कम ही आशा रहती है। श्रीभगवान्‌ने भी राजा मुचुकुन्दसे कहा है—

युञ्जानानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः।
अक्षीणवासनं राजन् दृश्यते पुनरुत्थितम्॥
(श्रीमद्भा० १०।५१।६०)

भक्तिके अभावमें वासनाका क्षय नहीं होता, अतएव वह शान्ति नहीं प्राप्त होती, जिससे चरम सुख मिलता है। बल्कि भक्तियोगके पक्षमें ये यम-नियम आदि बाधाएँ उत्पन्न करते हैं। भगवान्‌ने उद्धवसे कहा है—

अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम्॥
(श्रीमद्भा० ११।१५।३३)

अतएव चरम कल्याण या सर्वोच्च मङ्गलस्वरूप जो परा शान्ति है, जो श्रीभगवत्पाद-पद्मका मधु है, वह भक्ति-योगसे ही प्राप्त होता है। श्रीश्रीमहाप्रभु चैतन्यदेवने कहा है—

भुक्ति-मुक्ति सिद्धिकामी सकलि अशान्त।
कृष्णभक्त निष्काम अतएव शान्त॥
(श्रीचैतन्यचरितामृत)

अतएव भगवद्भक्तिकी प्राप्ति ही हमारे लिये निःश्रेयस—मङ्गल है, इससे बढ़कर मङ्गलजनक वस्तु और कोई नहीं है। साथ ही भक्तिकी प्राप्तिमें कोई क्लेश भी नहीं उठाना पड़ता। कर्मयोगी यदि अपने अर्जित फलकी असारता समझकर फलकी कामना छोड़कर 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में उपदिष्ट—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः।
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥

अस्मदीय प्रभुपाद परमहंस गोस्वामी अनन्त श्रीभक्ति-सिद्धान्त सरस्वती जिसको—

'(जड़) आसक्तिरहित (कृष्ण) सम्बन्धसहित
विषय सकल सकलि माधव।'

—कहा है, उसी युक्त वैराग्यका अवलम्बन करके 'ईशावास्य०' मन्त्रका अनुसरण कर अनासक्तभावसे 'यावन्नि-र्वाहपरिग्रह'—पथमें जो भगवत्प्रसाद ग्रहण करते हैं, उसीसे वे भक्तियोगी बनकर सर्वश्रेष्ठ कल्याण-प्राप्तिके अधिकारी हो जाते हैं। ज्ञानयोगी और 'आत्माराम मुनियों' के आदर्शसे भी श्रीहरिपादपद्ममें अहैतुकी अर्थात् मोक्षवासना-शून्य भक्ति करनेपर भगवच्चरणकी प्राप्ति शीघ्र ही सर्वोत्त-मोत्तम कल्याण प्राप्त किया जाता है; तब श्रीश्रीबिल्वमङ्गल ठाकुरकी भाषामें—

'मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलिः सेवतेऽस्मान्।'

—मुक्ति उसके अधीन हो जाती है। अष्टाङ्गयोगी यदि कालक्षेप न करके एकाग्र-चित्तरूपी मधुकरको भगवत्पादारविन्द-मकरन्दका पान कराकर मत्त करा सके तो उसको भी चरम कल्याण करतलगत हो जायगा।

सरल हृदयसे यह सब विचार करनेपर हम सर्वतोभावेन समझ सकते हैं कि अन्य मार्गद्वारा जिस मङ्गलकी प्राप्ति होती है, वह चरम कल्याण नहीं है। इसका एकमात्र मार्ग भगवदावेशावतार श्रीकपिलमुनि बतलाते हैं—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥
(श्रीमद्भा० ३।२५।४४)

तीव्र भक्तियोगसे मनको श्रीभगवच्चरणोंमें स्थिर-भावसे अर्पण करनेसे ही सर्वोच्च मङ्गल प्राप्त होता है।

यमराजने और भी स्पष्टरूपसे उपदेश दिया है—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥
(श्रीमद्भा० ६।३।२२)

अर्थात् भगवन्नाम-कीर्तनके द्वारा इस भक्तियोगको आचरणमें लाना पड़ेगा और भगवत्कीर्तन ही कलियुगमें जीवके लिये एकमात्र उपाय है। श्रीजीवगोस्वामीपाद अपने 'सन्दर्भ' ग्रन्थमें विधान करते हैं—'कलौ यद्यप्यन्या भक्तिः क्रियते, तथापि कीर्तनाख्यभक्तिसहयोगेनैव।'

श्रीशुकदेवजीने परीक्षित्से भागवतके अन्तमें कहा है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
(१२।३।५१)

कलिमें (निरपराध) कृष्णकीर्तनसे ही भोगासक्ति दूर होती है और भगवत्पादपद्मकी प्राप्ति होती है; परंतु इस कीर्तनको तबतक यज्ञका रूप नहीं मिल सका, जबतक श्रीमान् महाप्रभु कृष्णचैतन्यदेवने अवतीर्ण होकर विराट कीर्तन धर्मके सहयोगसे जगत्को प्रेम-प्लावित नहीं कर दिया। इस प्रकार विपुलरूपमें होनेवाले संकीर्तन-यज्ञके द्वारा ही कलिके जीवोंको मुक्तिके साथ प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है। जो इस उपायको ही ग्रहण करेंगे, वे ही वास्तवमें बुद्धिका परिचय देंगे!

'यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥'
(श्रीमद्भा० ११।५।३२)

जीवनका सर्वतोमुखी विकास

[श्रीअरविन्दाश्रमकी श्रीमाताजीद्वारा ईश्वर-कृपाकी व्याख्या]

(लेखक—श्रीऋषभचन्दजी)

पूर्व और पश्चिमके प्रायः सभी ईश्वरवादी धर्मोंमें कृपाके हस्तक्षेप एवं कार्यको ही आध्यात्मिक जीवनकी सफलता—सिद्धिका सर्वोच्च साधन माना गया है, किंतु लोग समझते हैं कि यह हस्तक्षेप रहस्यपूर्ण तथा अपूर्व ज्ञात होता है। कृपा, 'जहाँ कहीं वह पसंद करती है' वहाँ वायुकी तरह पहुँचती है। इसपर पुण्योंका अधिकार नहीं जम सकता और निकृष्ट पापको भी इससे निराश होनेकी जरूरत नहीं। यह गिरे और भटके लोगोंके भग्न हृदयोंके पास जाती है तथा प्रेमके रामबाणसे उन्हें स्वस्थ कर देती है, जब कि अहंकारपूर्ण बड़े-बड़े लोगोंके पाससे गुजर जाती है और मदमत्त लोगोंको अपना दुष्परिणाम भोगने देती है। यह सुकोमल ओस-बिन्दुकी तरह आती है, गरम दिनमें शीतल दक्षिणी वायुकी तरह अथवा श्मशान-अन्धकारके बीच प्रकाशकी चमककी तरह आती है। कभी-कभी तो यह आँधी या भूकम्पकी तरह मानव-अन्तरात्मामें झाड़-बुहार या उफान लाते हुए आ जाती है। इसकी क्रोधपूर्ण मुखाकृतियाँ उतनी ही आशिषस्वरूप हैं, जितनी कि इसकी आनन्द फैलानेवाली मुसकानें; और जब कभी यह जोरसे पीड़ा पहुँचाती है, तब वह केवल निद्रित एवं आलस्यपूर्ण लोगोंको उठाने और जगानेके लिये ही; क्योंकि कृपाके कार्यके बिना जीवन अपनी झाड़ियोंमें फँस पड़ेगा और प्राणी अपने अन्धकारमय तमस्में जंग खाते रह जायँगे।

'यह प्रज्ञा न प्रवचनसे, न मेधा या न अधिक श्रवणसे प्राप्त होती है, बल्कि आत्मा जिसे वरण करता है उसके लिये अपना स्वरूप प्रकट कर देती है *।' इस उक्तिके द्वारा उपनिषद् कृपाके कार्यका ही उल्लेख करती है। गीताकी शिक्षा तो कृपाकी भावना एवं उपदेशोंसे ओत-प्रोत ही है। हिंदुओंकी वैष्णव-प्रणालीमें भगवत्-प्राप्ति तथा मुक्तिके लिये भगवत्-कृपा ही एकमात्र उपाय मानी जाती है। भगवत्-कृपा अहैतुकी होती है, किसी बाहरी कारणसे कार्य नहीं करती; साथ ही इसका कार्य अप्रतिहत और अमोघ होता है। रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्यमहाप्रभु तथा रामकृष्ण परमहंस सबने भगवत्-कृपापर तर्कातीत जोर दिया है। ईसाई धर्म तो कृपाका ही धर्म कहा जा सकता है; यहाँतक कि यह अपने साररूपमें इसीसे गठित है, 'जबतक [illegible] उसे नहीं खींचता तबतक वह मेरे पास नहीं आ सकता।' इस विशिष्ट उक्तिकी भावना उपनिषद्के उपर्युक्त कथनके समान ही है। रूसब्रोक (Ruysbroeck) का कथन है, 'अवलोकन हमलोगोंको उस शुद्धि और प्रकाशमें आसीन करता है, जो हमारी बुद्धिसे बहुत ऊपर है ······ और कोई भी

* नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
(कठ० १।२।२३)

इसे ज्ञान, सूक्ष्मदृष्टि या किसी प्रयत्नसे भी नहीं प्राप्त कर सकता, बल्कि वही केवल पा सकता है जिसे भगवान् चुनते हैं अपनेसे युक्त और प्रकाशपूर्ण होनेके लिये, केवल वही, दूसरा कोई नहीं 'भगवान्‌का अवलोकन कर सकता है।' यहाँ भी हम प्रायः उपनिषद्‌के कथनकी सादृश्यता पाते हैं। वही रहस्यवेत्ता फिर दूसरी जगह कहते हैं, 'कृपा और हमारे ईश्वरोन्मुख प्रेमसे ही भगवान्‌के साथ एकता प्राप्त होती है।' एक दूसरे पश्चिमी रहस्यवेत्ता रिचर्ड रौल (Richard Rolle) इसका समर्थन करते हुए कहते हैं—'भगवान्‌का मधुर अवलोकन अत्यधिक परिश्रमसे प्राप्त होता और असीमतापूर्वक इसे धारण किया जाता है। फलतः यह मनुष्यकी योग्यता नहीं बल्कि ईश्वरकी कृपा—देन है।' हिल्टन (Hilton) भी यही बताते हैं, 'सर्वप्रथम वही उसे चुनते हैं और यह भी तब जब वह मानवको अपनी भक्तिकी मधुरताके द्वारा अपनी ओर खींचते हैं।' हिल्टन बार-बार कृपापर ही उत्साहवर्धक ओजस्वी वचन देते हैं। जबतक मनुष्यकी अन्तरात्मा विशेष कृपाका स्पर्श नहीं पाती, तबतक यह जडवत् और आध्यात्मिक कार्यके लिये अयोग्य रहती है और आध्यात्मिकताके अंदर प्रवेश भी नहीं पा सकती। वह अपनी दुर्बलतामें ग्रसित ही नहीं; वरं तमोग्रस्त और शुष्क रहती है, अपने-आपमें रूढ़ और नीरस रहती है। तब कृपाका प्रकाश आता है और स्पर्शके द्वारा उसे तीक्ष्ण, सूक्ष्म बना देता है, आध्यात्मिक कार्यके लिये प्रस्तुत और समर्थ कर देता है और कृपा-कार्योंको वहन करनेके निमित्त पूर्ण स्वतन्त्रता और तैयारी प्रदान कर देता है।' वैरन वन ह्यूजेल (Baron Von Hugel) ने तो कृपाको '...... यूरोपीय सभ्यता एवं यहूदी-ईसाई धर्मका सर्वोत्तम मूल तथा पुष्प ......' कहा है। 'ओरीजन (Origen) के अनुसार [स्वत]न्त्रता और कृपा ही दो पंख हैं, जिनके सहारे मानव-[अन्]तरात्मा भगवान्‌की ओर आरोहण कर सकती है।'

कृपामें आध्यात्मिक जिज्ञासुओंके विश्वव्यापी विश्वासके परम्परागत आधारसे हमलोग पूरी तरह परिचित हो चुके। अब हमलोग श्रीमाताजीकी शिक्षाकी ओर अभिमुख हों और [य]ह समझनेकी चेष्टा करें कि इस विषयपर उनका [क्]या कथन है।

कृपा क्या है ?

इस विषयके मूलतक जाकर श्रीमाताजी कृपाके उद्गम-स्रोत तथा इसकी तात्त्विक प्रकृतिके बारेमें समझाती हैं और तब इसके कार्यकी गतिविधि, इसकी प्राप्तिके लिये अनिवार्य शर्तों, पूर्णयोगमें इसके स्थान आदिपर प्रकाश डालती हैं। श्रीमाके अनुसार कृपा भगवान्‌का प्रेम है, जो यहाँ निश्चेतन और अज्ञानमें उतर आया है ताकि वह इसे परम सत्य एवं चेतनाके अनन्त प्रकाशकी ओर जाग्रत् कर सके। 'परमेश्वरने अपनी कृपाको जगत्‌में उसकी रक्षाके लिये भेजा है।' (मातृवाणी) इसके आविर्भावके पूर्व यहाँ प्रत्येक वस्तु गहन अन्धकार और जडतामें निमग्न थी। प्राणरहित जडके मृत्यु-पाशमें बद्ध थी। कृपास्वरूप प्रेम अवतरित हुआ और सर्वप्रथम विवर्तनमें, विकास-क्रममें चिरस्थायी आवेग भर दिया। फलतः जडमें सुषुप्त आत्मा जाग्रत् हुई और क्रमशः धीरे-धीरे अपनी अनन्त एवं सनातन चेतनाकी ओर ले जायी जाने लगी। कृपा सर्वव्यापी, सर्वाधार और सर्व रूपान्तरकारी है। यह सर्वत्र है और स्पष्ट एवं गुह्य विश्वशक्तियोंकी जटिल क्रीडाके पीछे विद्यमान उच्चतम क्रियाशक्ति है।

'तुम्हें जो करना चाहिये वह यह कि अपने आपको पूरी तरहसे भगवान्‌की कृपापर छोड़ दो। कारण, प्रथम निवर्तन स्थापित होनेके बाद भगवान्‌ने कृपा और प्रेमका रूप धारण करके ही जगत्‌को ऊपर उठानेका भार स्वीकार किया। भगवान्‌के प्रेममें ही रूपान्तरकी परम शक्ति होनेका कारण यह है कि रूपान्तरके निमित्त ही इसने अपने-आपको न्यौछावर कर दिया है और हर जगह अपने-आपको प्रकट कर दिया है। केवल मनुष्यके भीतर ही नहीं, अपितु अत्यन्त अन्ध जड प्रकृतिके समस्त अणुओंमें इसने अपने-आपको उँड़ेल दिया है ताकि यह संसारको मूल परम सत्यकी ओर फिरसे वापिस ला सके। इसी अवतरणको भारतीय धर्मशास्त्रोंमें परम यज्ञ कहा गया है।'

अतः कृपा ही प्रेम है, जो सम्पूर्ण जगत्‌में व्याप्त होकर मुक्ति एवं रूपान्तरकी अधिकतम बलशाली शक्तिके रूपमें मोटे पर्देके पीछेसे कार्य कर रहा है। यह प्रचलित धारणा कि कृपा कुछ ऐसी चीज है, जो अचानक ही आती है। कहाँसे आती है, यह मालूम नहीं होता, आश्चर्यमय परिणाम उत्पन्न करके पुनः वहाँ लौट जाती है, आंशिक सत्यपर आधारित है; क्योंकि यह तो कृपाके कार्यका अचानक घटित होनेवाला बाहरी परिणाममात्र है, किंतु यह जगत्‌के सदसत् प्राणिमात्रके अंदर इसकी सतत क्रियाशील उपस्थितिका दर्शन नहीं है। कृपा

तो सभी प्राणियों, वस्तुओं और घटनाओंमें सर्वविद् एवं सर्व-संचालक प्रेमके रूपसे विद्यमान है और इसकी सशक्त क्रियासे लाभान्वित होनेके लिये श्रद्धा एवं विश्वासके साथ इसकी ओर खुलना ही पर्याप्त है। 'कृपा सबके लिये एक समान प्राप्य है। पर प्रत्येक व्यक्ति अपनी सचाईके अनुसार इसे ग्रहण करता है। यह बाहरी परिस्थितियोंपर निर्भर नहीं करती, बल्कि सच्ची अभीप्सा और उद्घाटनपर निर्भर करती है।'

जो लोग किसी भौतिकवादी झुकावसे अंधे नहीं हुए हैं, जिनका आन्तर बोध व्यक्तिगत पसंदगियोंसे बिल्कुल नहीं ढका है और जिनका हृदय आध्यात्मिक दबावोंके प्रति सूक्ष्मतया ग्रहणशील है, वे जीवनके घटना-चक्रोंमें कृपाकी रहस्यमयी क्रियाका कुछ बोध कर सकते हैं; किंतु जो लोग आध्यात्मिक जीवन, प्रधानतः योगका जीवन, अनुसरण करते हैं, वे लोग इस तथ्यको ठोसरूपसे जाननेमें कभी नहीं चूक सकते कि 'बाह्यरूपोंके पीछे विद्यमान यह अनन्त, आश्चर्यमय सर्वशक्तिमान् कृपा ····· प्रत्येक चीजको जानती है, प्रत्येक चीजको सुसंगठित और व्यवस्थित करती है और हमलोगोंके चाहने अथवा न चाहने, जानने अथवा न जाननेपर भी हमलोगोंको ले जा रही है चरम लक्ष्यकी ओर ही, भगवान्‌के साथ एकता, भागवत चेतनासे सचेतन होने और इसके साथ घुल-मिलकर एक होनेकी ओर ही।' कैसे यह हमलोगोंकी अपनी प्रकृतिके बावजूद हमें विकास-मार्गपर आरूढ़ रख रही है? और जब हमलोग बहककर भटक जाते, जब हमारी अन्तर्दृष्टि मलिन पड़ जाती और हृदयकी अग्नि मन्द पड़ जाती है, तब भी यह हमें सुदूर प्रकाशकी ओर संकेत करती रहती है और हमारे कानोंमें कहती रहती है; **'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः'** (मैं तुझे सभी पापोंसे मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर)। जब हम किसी उत्तेजनापूर्ण इच्छासे उद्वेलित होकर अथवा किसी वासना या भ्रान्तिसे अंधे होकर भागवत-संकल्पके विरुद्ध विद्रोह करते हैं तब कृपा हमें अनिष्ट एवं विपत्तिसे दंशन करती है और तीव्र वेदनाके द्वारा हमें सजग करती है ताकि इच्छा या भ्रान्ति पीड़ाकी अग्निमें जलकर विलीन हो जाय और हमलोग भगवान्‌की प्रसारित भुजाओंकी ओर पुनः मुड़ सकें। यदि कृपाका चाप हमारी सत्ताके वक्र और भयभीत भागोंपर कभी-कभी बोझरूप और पीड़ामय हो जाता है तो यह केवल भगवान्‌के भार (Divine's yoke) सहन करनेके हेतु पर्याप्त सबल एवं सीधा बनानेके लिये ही होता है; क्योंकि हमारे यान्त्रिक प्रकृतिके भागोंपर भगवान्‌का भार ही है उनके निरपेक्ष स्वातन्त्र्यमें हमारे जीवका मोक्षस्वरूप निवास।

वस्तुओंके सम्बन्धमें हमारा मूल्याङ्कन बिल्कुल ही बाह्य और अज्ञानमूलक होता है। जिसे हम भला या बुरा, शुभ या अशुभ, प्रसन्न या विपन्न, सहायक या बाधक मानते हैं वह सब दयालु विधाताके कामकी ही चीज है, जिसे वे प्रत्येक विवर्तनकारी जीवके चरम कल्याणके लिये उपयोग करते हैं। भगवान् सौभाग्यकी ही तरह दुर्भाग्यका भी उपयोग उतनी ही स्पष्टदर्शी कृपाके साथ करते हैं। यदि आवश्यक हो तो जीवको अज्ञान-जालसे निकालनेके लिये विपत्ति एवं मृत्युका भी उपयोग करनेमें भेद नहीं करते। जब एक बार हमारी आँखें भागवत-कृपाकी सतत उपस्थिति एवं हस्तक्षेपके सत्यकी ओर पूरी तरह खुल जाती हैं, तब हम अपने जीवनकी परिस्थितियोंके सम्बन्धमें शिकायत नहीं करना जान जाते हैं, बल्कि उन सबमें सर्व-प्रेमीके हाथ पाते हैं, जो हमें निर्भ्रान्त और अमोघरूपसे अपनी ओर, अपने शाश्वत सामञ्जस्य तथा आनन्दकी ओर ले जा रहे हैं और यही है हमारे लक्ष्यकी चरम परिपूर्णता।

श्रीमाताजी कहती हैं, 'यदि तुम सचमुच ही तीव्र अभीप्साकी अवस्थामें हो तो कोई भी ऐसी परिस्थिति नहीं है जो तुम्हारी अभीप्साकी चरितार्थतामें सहायता न करे। सभी तुम्हारी मदद करेंगे, मानो अखण्ड और निरपेक्ष चेतनाने ही सभी चीजोंको तुम्हारे चारों ओर व्यवस्थित किया है और तुम अपनी बाहरी अज्ञानावस्थामें इसे न भी पहचान सकते हो, परिस्थितियोंके आनेपर तुम सर्वप्रथम इनका विरोध भी कर सकते हो, तकलीफकी शिकायत भी कर सकते हो और उन्हें बदल देनेके लिये प्रयत्न भी कर सकते हो; किंतु जब तुम अपने और घटनाके बीच थोड़ी दूरी रखकर अ[illegible] बुद्धिमान् हो जाओगे, तब उसके बाद ही तुम देखोगे [illegible] तुम्हारी निर्धारित प्रगतिके लिये यह नितान्त आवश्यक था। संकल्प, सर्वोच्च शुभ संकल्प ही तुम्हारे चारों ओर सब कुछ बिछाता है।' सर्वज्ञ विश्व प्रेम ही हमारे जीवनकी व्यवस्था और संचालन कर रहा है, न कि अन्धसंयोग अथवा आकस्मि[illegible] घटनाओंका अज्ञात चक्र।

अपने आध्यात्मिक जीवनमें सदा ही हम अधिकाधिक आश्चर्य और कृतज्ञताके साथ निरीक्षण करते हैं कि कैसे

हमें अनुभूतियाँ मिलती हैं, कैसे हमारी चेतनापरसे एकके बाद दूसरा पर्दा हटता जाता है; हमारी दृष्टिके समक्ष सत्यका क्रमशः उच्चतर स्वरूप प्रकट होता जाता है, अन्धकारका जमा हुआ ढेर बात-की-बातमें दूर हो जाता है, मानो ये सब जादूके खेल हों ? जो हम कठोर व्यक्तिगत श्रम, अनुशासन और प्रार्थनासे नहीं प्राप्त कर सकते, वह अचानक ही केवल कृपारूपसे हमारे अंदर तैरता हुआ आ जाता है । हमें पता भी नहीं लगता कि कैसे एक निश्चित प्रकाशमय संकेत आ मिला, एक निश्चित आवश्यक स्थिति स्थापित हो गयी, किसी हठी समस्याके लिये एक नया समाधान मालूम पड़ गया; अवरोधी कठिनाई हमारे रास्तेसे दूर फेंक दी गयी और हमारी दृष्टिके समक्ष एक महिमान्वित दीप्तिमान् क्षितिज प्रकट हो गया ! जब हम अपनेको भ्रान्त और निराश्रित अनुभव करते हैं और आगे बढ़नेका रास्ता नहीं देख पाते हैं, अचानक ही एक प्रकाश-किरण हमारे अंदर घिर आती है और एक संज्ञाहीन शक्ति हमे सारे जंगलसे बाहर निकाल ले जाती है । अतएव किसी भी काल, परिस्थिति या घटनामें हमें विषादयुक्त अथवा आशाहीन अनुभव करनेकी जरूरत नहीं है । कृपाके आशीर्वादस्वरूप, 'व्यथा-पलका प्रत्येक आघात परमानन्दकी ओर एक पदारोहण हो सकता है ।' यहाँ एक नेत्र है, जो अपनी प्रेमभरी सावधानीमें निद्रा-रहित रहता है और एक भुजा है, जो सहायता और आराम देनेमें क्लान्तिरहित है । नष्टप्राय अनुभव करना तो मानो ईश्वरको अस्वीकार करना तथा उनकी कृपाको दूर हटाना है ।

'भगवत्कृपाके सामने कौन अधिकारी है और कौन अनधिकारी ? सब कोई उन एक ही अभिन्न माताकी संतान हैं । उनका प्रेम सब किसीपर एक-सरीखा बरस रहा है; परंतु हर एकको उसकी प्रकृति और ग्रहण-सामर्थ्यके अनुसार देती हैं ।'

कृपाकी शर्तें

'किंतु कुछ शर्तें पूरी करनी हैं । विशाल पवित्रता तथा आत्मदानमें अधिक तीव्रता और उस भागवत-कृपाकी सर्वोच्च प्रज्ञामें ऐकान्तिक विश्वास, जो हमारे वास्तविक कल्याणके विषयमें हमसे अधिक जानती है, अपेक्षित हैं । यदि अभीप्सा उसको अर्पित की जाय और अर्पण सचमुच काफी तीव्रताके साथ किया जाय तो परिणाम आश्चर्यजनक होगा ।'

भागवत-कृपाके अविरोध कार्य करनेके लिये पवित्रता, अकल्मष आत्मदान और सहज श्रद्धा-विश्वास—ये तीन मुख्य शर्तें हैं । श्रद्धा नहीं रखना मानो कृपाके विरुद्ध अपनी सत्ताका दरवाजा बंद कर देना है । 'भगवत्-कृपा बराबर ही कार्य करनेके लिये तैयार है; पर तुम्हें इसे करनेका मौका देना चाहिये और इसके कार्यका विरोध नहीं करना चाहिये । एकमात्र आवश्यक शर्त है श्रद्धा ।' आत्मदान न करनेसे हम अहंकारात्मक एवं पृथगात्मक अज्ञानमें असहायभावसे आबद्ध रह जाते हैं । श्रद्धा और आत्मदानसे पवित्रता आती है और पवित्रतासे कृपाका कार्य निश्चित रूपसे सरल हो जाता है । 'हम अपने-आपको पूर्ण रूपसे तथा कुछ बचाये बिना भगवान्‌को सौंप दें, तभी हम भली प्रकारसे भगवत्कृपाको प्राप्त कर सकेंगे ।'

कृपा और वैश्वन्याय

'न्याय है विश्व-प्रकृतिकी गतियोंपर कठोर तर्कसंगत नियन्तृत्व ।' परिस्थितिका अज्ञात विधान, कारणकी रूढ़िगत विधि और परिणाम—इन तीनोंसे वैश्व शक्तियोंकी क्रियाएँ शासित होती हैं । बुद्धदेवके कथनानुसार इसमें न तो कोई अपवाद है, न कोई बचनेका छिद्र । जैसा कोई बोता है वैसा उसे काटना है । अपने कर्मके स्वाभाविक एवं अनिवार्य परिणामोंसे छूटनेका कोई उपाय नहीं है; किंतु श्रीमा आश्वासन देती हैं कि 'केवल भगवत्कृपामें ही यह शक्ति है कि वह इस विश्वव्यापी न्यायके कार्यमें हस्तक्षेप कर सके और उसके क्रमको बदल सके ।' विश्व-प्रकृतिके नियन्तृत्वको अतिक्रम करनेका अधिकारपूर्ण स्वातन्त्र्य कृपामें ही है, कारण कि यह प्रकृतिकी परिधिके बाहरसे ही कार्य करती है—इसका एकाधिपत्य इसके सर्वसमावेशकारी परात्परतामें ही निहित है । इसकी स्वतन्त्रता उच्छृङ्खल स्वेच्छाचारिताके लिये नहीं है, वरं यह तो प्रेमकी सर्ववेत्ता प्रज्ञाकी एकाधिपत्य स्वतन्त्रता है । वैश्वन्याय तो इस प्रेमका बहिर्गत अंश, अस्थिर जगत्-व्यापारमें यान्त्रिक क्रियामात्र है । एक बार श्रीमाने कृपा-कार्यको एक उदाहरणद्वारा यों समझाया था । कोई आदमी सीढ़ीसे नीचे उतर रहा है, एक ढीला, स्थानच्युत खपड़ा ठीक उसके सिरपर गिरनेहीवाला है । खिंचावके नियमके अनुसार वह खपड़ा गिरेगा ही और उसके सिरको तोड़ेगा ही; किंतु आश्चर्य, अचानक ही उसके पीछेसे एक हाथ आगे फैल आता है और खपड़ेको पकड़ लेता है । अतः

आदमी बच गया। उसके पीछेसे किसी व्यक्तिका यों हस्तक्षेप करना ही कृपाका हस्तक्षेप है, जो प्रकृतिके कठोर नियन्तृत्वको उड़ा देता है।' श्रीमा कहती हैं, 'इस भगवत्कृपाको पृथ्वीपर अभिव्यक्त करना, यही है अवतारका महान् कार्य। अवतारका शिष्य होना इस भगवत्कृपाका एक उपकरण बनना है। माता तादात्म्यद्वारा इस भगवत्कृपाको बाँटनेवाली देवी हैं, जो इस वैश्वन्यायकी समग्र यान्त्रिकताका तादात्म्यद्वारा पूर्ण ज्ञान रखती हैं और उनको बीचमें रखकर की गयी भगवान्‌की ओर सची और विश्वासपूर्ण अभीप्साकी प्रत्येक गति, प्रत्युत्तरमें इस कृपाको हस्तक्षेप करनेके लिये यहाँ नीचे बुला लाती है।'

'तेरी कृपाके लगातार हस्तक्षेपके बिना ऐसा कौन था, जो इस विश्वव्यापी न्यायके क्षुरेकी निर्दय धारके नीचे अकसर न आया होता?'

'एकमात्र भागवत-कृपाके लिये ही प्रार्थना करनी चाहिये—यदि न्यायशक्ति कार्य करे तो बहुत कम ही लोग उसके सामने टिक सकेंगे।'

युक्त-वृत्ति

एक बार जब हमने अपनेको कृपाके प्रति समर्पित कर दिया है, तब जो कुछ वह निर्णय करे, उसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिये और जो कुछ हमपर घटित हों चाहे हमारी मानसिक धारणाके अनुसार घटनाएँ शुभ या अशुभ, इष्ट या अनिष्ट आदि क्यों न हों, उन सबमें इसके संकल्पको अनुभव करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। 'उसी चीजको, उसी परिस्थितिको, जो बिल्कुल एक-सी ही हो, भगवान्‌की देन, भागवत-कृपा और पूर्ण सामञ्जस्यका परिणामस्वरूप मान लें तो वह हमें अधिक सचेतन, बलशाली और सच्चा बनानेमें मदद करती है।' यही है युक्त-वृत्ति। यदि हम इस युक्त-वृत्तिको धारण रखें तो हम अपनी सारी घटनाओंसे लाभ ही उठा सकेंगे; क्योंकि हमारा कृपामें श्रद्धा-विश्वास उन्हें हमारे अंदर और ऊपर आसानीसे और स्वतन्त्रतासे कार्य करने देगा और अपने रहस्यमय रसायनके द्वारा पराजयको विजयमें तथा दुर्भाग्यको उत्तम परम भाग्यमें बदल देगा। यही है सारे जगत्‌में आध्यात्मिक जिज्ञासुओंकी विश्वगत अनुभूति। किंतु, दूसरी ओर, यदि इसी चीजको, इसी परिस्थितिको 'हमें नुकसान पहुँचानेवाली अशुभ शक्ति-स्वरूप भाग्यप्रदत्त विपत्ति' मान लें तो यह 'हमें क्षीण, सुस्त और भारी बना देगी; हमारी चेतना, बल और सामञ्जस्यको हर लेगी।' यहाँपर प्रह्लादका शास्त्रीय उदाहरण बिल्कुल उपयुक्त है; क्योंकि कृपापर उसकी ऐकान्तिक निर्भरता थी, कृपाने उसे सभी परीक्षाओंमेंसे सुरक्षित निकाल लिया। संदेह या शङ्का तो कृपाके कार्य-मार्गका एक बाधक है। सरल एवं प्रश्नातीत श्रद्धा-विश्वास ही सभी कठिनाइयोंके विरुद्ध सर्वोत्तम रक्षक है। 'जो लोग अभीप्सा करते हैं, उनके लिये कृपा और सहायता सतत विद्यमान हैं और श्रद्धा-विश्वासके साथ ग्रहण करनेपर उनकी शक्ति असीम हो जाती है।' यदि कृपाका उत्तर शीघ्रतर नहीं आता हो तो हमें विश्वासपूर्ण धैर्य—आवश्यकतानुसार अनन्त धैर्यके साथ प्रतीक्षा करनी चाहिये तथा मनको जरा भी संदेह करने या प्राणको स्थिरता खोने नहीं देना चाहिये। 'धैर्य और अध्यवसाय होनेपर सभी प्रार्थनाएँ पूरी हो जाती हैं।' 'भगवान्‌की कृपाशक्ति, संकल्पशक्ति और क्रियापर पूर्ण श्रद्धा बनाये रखो—सभी कुछ ठीक हो जायगा।' इस युक्त-वृत्तिसे एक क्षणके लिये भी गिर जानेपर कृपा-कार्यमें रुकावट या देर हो सकती है।

कृपा और रोग

श्रीमाताजी कहती हैं कि ९० प्रतिशत रोग शरीरमें अवचेतन भयके फलस्वरूप होते हैं। शरीरकी सामान्य चेतनामें शरीरपर पड़नेवाले थोड़े-से-थोड़े आघातके परिणामोंके सम्बन्धमें भी कम या अधिक बेचैनी छिपी रहती है। भविष्यके बारेमें संदेहके इन शब्दोंको यों प्रकट किये जाते हैं, 'और क्या घटेगा?' इसी बेचैनीको रोकना होगा। वास्तवमें यह बेचैनी तो भागवत-कृपामें विश्वासका अभाव ही है, जो समर्पणके पूर्ण नहीं होनेका निश्चित चिह्न है।

इस प्रकारकी घातक बेचैनीको दूर करनेका उपाय श्रीमाँ निम्न तरीकेसे समझा रही हैं, 'अवचेतन भयको जीतनेका व्यावहारिक साधन यह है कि जब कभी इसका कुछ भाग ऊपरी सतहपर आवे, तब सत्ताका प्रकाशमय भाग शरीरपर, भागवत-कृपामें पूर्णतया विश्वास रखनेकी आवश्यकतापर, इस विश्वासपर कि हमारे एवं सबके अंदर सर्वोत्तम मङ्गलके लिये कृपा सतत कार्य कर रही है और भागवत-संकल्पके प्रति सम्पूर्णतया एवं बिना कुछ बचाये

समर्पित होनेके निश्चयपर जोर डाले।' कृपामें सम्पूर्ण और अडिग विश्वास ही सब प्रकारके भयके लिये सर्वाधिक सफल औषध है।

कृपा तथा पूर्णयोग

ऐसा कह सकते हैं कि श्रीमाताजी जैसे कृपाको ही साधारणतः मानवके विवर्तनकारी आरोहणके पीछे विद्यमान एकमात्र संचालक-शक्ति मानती हैं, वैसे ही पूर्णयोगमें इसे ही प्रगतिका एकमात्र साधन समझती हैं। श्रीअरविन्दका तो कथन है कि 'योगमें सबसे प्रधान बात यही है कि प्रत्येक पगपर भागवत-कृपापर विश्वास रखते हुए, अपने विचारोंको निरन्तर भगवान्‌की ओर परिचालित करते हुए तबतक अपने-आपको समर्पित किया जाय जबतक कि हमारी सत्ता-का उद्घाटन न हो जाय और हम यह न अनुभव करने लगें कि हमारे आधारमें श्रीमाकी शक्ति कार्य कर रही है।' कोई भी अत्यन्त शक्तिशाली व्यक्ति अपने निजी बल तथा परिश्रमसे पूर्णयोगका साधन नहीं कर सकता एवं इसके लक्ष्य—अतिमानसिक रूपान्तरतक नहीं पहुँच सकता है। योगके एकदम प्रारम्भसे लेकर अन्ततक—प्रारम्भमें तो अभीप्साकी अग्निको प्रज्वलित करने और हमारी आत्मसमर्पणार्थ तीव्र चेष्टाको संचालित एवं सुरक्षित रखनेके लिये तथा अन्तमें सर्वोच्च सत्यकी विजय और भौतिक जीवनमें इसकी अभिव्यक्तिके लिये—एकमात्र भागवत-कृपापर पूर्ण निर्भरता ही अत्यावश्यक है। 'आओ, हम अपनी संकल्पशक्तिको भगवत्कृपाके भेंट चढ़ा दें; यह कृपा ही सब कुछ सिद्ध करती है।' पूर्णयोग जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, अनेक पथरीले रास्ते और अगम्य जंगलसे गुजरता है। नीचे और ऊपर दोनों ओर ही प्रलोभन हैं—अन्धकार-क्षेत्रोंके प्रलोभनोंकी ओर तो हम अत्यधिक झुके हैं, प्रकाश-क्षेत्रोंके प्रलोभन तो प्रायः दुर्दमनीय-से लगते हैं। कोई भी मानव-जीव अपने सहायता-हीन बलसे इन्हें नहीं जीत सकता। 'एकमात्र भगवत्कृपापर आश्रित रहना और सभी परिस्थितियोंमें इसकी सहायताका आवाहन करना, यह हमें सीखना होगा; तब वह निरन्तर चमत्कार करके दिखलायेगी।'

भगवान् ही हमारी अत्युच्च सम्भवनीय मुक्ति एवं पूर्णताके लिये अनन्ततया अत्यधिक हितकारी हैं, यही है कृपामें हमारी श्रद्धाको गुप्त ढंगसे आधारित और सुरक्षित रखनेवाला मूलगत सत्य; क्योंकि भगवान् ही यहाँ हमारे अंदर विकसित हो रहे हैं,—हमारी आत्मा उनकी आत्मा है, हमारा मन उनका मन है, हमारे प्राण उनके प्राण हैं और हमारा शरीर उनका ही भौतिक अभिधान (पोशाक) है। प्रत्येक प्राणीमें और वस्तुमें उनकी विकसनशील आत्माभिव्यक्तिके पीछे अविज्ञेय किंतु अमोघ प्रज्ञा अपने ही निर्भ्रान्त छन्दके साथ विद्यमान है। वही प्रज्ञा है प्रेमकी सर्व-विजेता शक्ति एवं वही है कृपा। जब हम एक बार इस सत्यको पा लेते हैं, हम अपनेको कृपाकी भुजाओंमें सीधे फेंक देते हैं और जहाँ कहीं तथा जैसे भी वह चाहती है अपनेको ले जाने देते हैं, तब कृपा ही बन जाती है हमारे सम्पूर्ण जीवनकी एकमात्र चालक तथा शरण। उसकी सीमाविहीन गोदमें लेटकर हम, अचल हर्ष तथा कृतज्ञतासे परिप्लावित हृदयके साथ, सम्पत्ति और विपत्तिसे होते हुए परमेश्वरकी प्रेम और आनन्दकी सनातन स्थितिकी ओर यात्रा करते हैं। कृपाके कार्यके प्रति प्रशान्त एवं हर्षमय कृतज्ञता ही हमारे हृदयोंका सबसे अधिक सहायतापूर्ण दातव्य उत्तर है। 'भागवत-कृपाके प्रति कृतज्ञताभिभूत एवं पूर्णतया कृतज्ञ रह सकना ही तुम्हारे लिये अन्तिम चीज है; तब तुम यह देखना शुरू कर दोगे कि प्रत्येक पगपर चीजें ठीक वैसी ही हैं जैसी कि होनी चाहिये और उतनी ही अधिक अच्छी हैं जितनी कि हो सकती हैं। तदनन्तर सच्चिदानन्द अपनेको एकत्रित करना प्रारम्भ करते हैं और अपने ऐक्यको पुनर्गठित करते हैं।

मैं सदा भगवत्कृपासे सुरक्षित हूँ

भगवान्‌की महती और सहज कृपा मुझपर सदा सब ओरसे बरस रही है। मैं सदा-सर्वदा उस कृपा-सुधा-सागरमें ही डूबा रहता हूँ। इससे मेरे पास कभी कोई विपज्ज्वालाकी धारा अब आ ही नहीं सकती। भगवान्‌की कृपासे मेरे जीवनकी सारी ज्वाला, सारी अशान्ति शान्त हो गयी है। पाप-ताप कभी मेरे समीप भी नहीं आ पाते। भगवत्कृपाने सब ओरसे मुझको सुरक्षित कर रखा है। मेरा सारा भार अपने ऊपर ले लिया है और मुझे निश्चिन्त, निर्भय तथा नित्य प्रभुके चरणोंमें नत बना दिया है। मैं सदा भगवत्कृपासे सुरक्षित हूँ।

जगदीश और जगत्का सम्बन्ध

(लेखक—पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र काव्य-व्याकरण-सांख्य-स्मृति-तीर्थ)

ईश्वर और संसारका सम्बन्ध व्याप्य-व्यापक भाव है। जगत् व्याप्य है और ईश्वर व्यापक है। जैसे तिलमें तेल सर्वत्र व्याप्त है, उसी तरह ईश्वर संसारके कण-कणमें व्याप्त है। जैसे तिलका कोई अंश ऐसा नहीं है, जिसमें तेल न हो, उसी तरह जैसे दूधमें माधुर्य है। माधुर्य दूधके कण-कणमें व्याप्त रहता है। इसी तरह ईश्वर भी संसारमें सर्वत्र व्याप्त हैं। ईशावास्योपनिषद्के प्रथम मन्त्रमें यह लिखा है—

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'

अर्थात् जो कुछ इस संसारमें हैं, वह ईश्वरसे व्याप्त है।

भगवान्ने गीतामें भी कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

यहाँ पश्यतिका अर्थ अनुभव करना है। जो ईश्वरका सर्वत्र अनुभव करता है, वह ईश्वरको भूलता नहीं। अर्थात् वह अनाचार, अत्याचार और व्यभिचार आदि बुरे कर्मोंमें नहीं फँसता; क्योंकि वह अपनेमें भी ईश्वरकी व्यापकताका अनुभव करता है। फिर वह अपनी बुराई स्वयं ही कैसे कर सकता है। इस तरहका अनुभव जिसको हो जाता है, उसको मायाका चमत्कार मुग्ध नहीं करता। वह सांसारिक सुखको तुच्छ समझता है। कण-कणमें ईश्वरकी व्यापकता समझनेवाला मुनि दुर्लभ कहा गया है। गीतामें ही भगवान्ने कहा है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

वासुदेव अर्थात् वसुदेवके पुत्र श्रीकृष्ण ही सब कुछ हैं, वे ही ईश्वर हैं, वे ही सब जगह व्याप्त हैं—इस बातका अनुभव तत्त्वज्ञानीको ही होता है।

जो अज्ञानी हैं, वे ही श्रीकृष्णको भी ईश्वर नहीं मानते। उनकी समझमें नहीं आता कि श्रीकृष्ण तो मनुष्यके रूपमें स्वयं परिच्छिन्न दीखते हैं, फिर वे व्यापक कैसे हो सकते हैं। तत्त्वज्ञानियोंमें भी किसी-किसीको ही ऐसा भान होता है, इसलिये इसे दुर्लभ कहा गया है।

अर्जुन भगवान्के सखा थे, तो भी उनको इस बातका पूर्ण ज्ञान निश्चितरूपसे नहीं था। यद्यपि भगवान्ने उनसे कहा था—

'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'

अर्थात् यह समस्त संसार मुझमें मालाकी तरह गूँथा हुआ है। इसपर भी अर्जुनको संदेह रह ही गया। अपने संदेहको दूर करनेके लिये उन्होंने भगवान्से कहा कि आपकी सभी बातें सत्य हैं। फिर भी मैं आपके उस ऐश्वर्य-स्वरूपको देखना चाहता हूँ—

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥

भगवान्ने भी अपने कथनको प्रमाणित करनेके एवं अर्जुनके संदेहको दूर करनेके लिये कहा—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥

हे अर्जुन! सैकड़ों और हजारों अनेक रंग और अनेक तरहकी आकृतियोंवाले मेरे स्वरूपको देखो।

परंतु तुम इन पार्थिव नेत्रोंसे उन रूपोंको नहीं देख सकते, अतः तुमको दिव्य नेत्र देता हूँ। ऐसा कहकर दिव्य नेत्र प्रदान करके श्रीकृष्णने अपना ऐश्वर्य—रूप अर्जुनको दिखलाया। तब उनको दृढ़ विश्वास हुआ कि श्रीकृष्ण ही समस्त जगत्में व्याप्त हैं और वसुदेवके पुत्र बने हुए हैं, एवं मेरे मित्र भी बने हैं।

इसी तरह सब वस्तुओंमें ईश्वरके अस्तित्वका अनुभव प्रह्लादजीको था। उनको इस अनुभवके कारण उनके पिताके दिये हुए कष्टोंका अनुभव नहीं हुआ। पिताके पूछनेपर प्रह्लादजीने कहा था।

न केवलं मे भवतश्च राजन्
स वै बलं बलिनां चापरेषाम्।
परेऽवरेऽमी स्थिरजङ्गमा ये
ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः॥
स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसा-
वोजःसहःसत्त्वबलेन्द्रियात्मा।
स एव विश्वं परमः स्वशक्तिभिः
सृजत्यवत्यत्ति गुणत्रयेशः॥

(श्रीमद्भा० ७। ८। ८-९)

उनके कहनेका तात्पर्य यह है कि वही परमात्मा एक है, जो मेरा बल है और अन्य वीरोंका भी बल है। इस

संसारमें छोटे-बड़े जितने भी हैं, चाहे वे स्थावर हों या जंगम—सबको वह अपने वशमें रखता है। यहाँतक कि ब्रह्मा आदि, जो सृष्टिकर्त्ता हैं, उनकी सृष्टिविधायिनी शक्ति भी वही है।

मत्स्यपुराणमें नरसिंह भगवान्‌की स्तुतिमें ब्रह्माजीने कहा है—

परांश्च सिद्धांश्च परं च देवं
परं च मन्त्रं परमं हविश्च।
परं च धर्मं परमं च विश्वं
त्वामाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥

(मत्स्यपु० अध्याय १६२ श्लोक ९६)

परम सिद्धगण, पर देवता, श्रेष्ठ सर्वोत्तम मन्त्र और हवनीय पदार्थ, सर्वश्रेष्ठ धर्म एवं समस्त विश्व—ये सब पुराणपुरुषोत्तम आपको ही कहते हैं। इन सब प्रमाणोंसे ईश्वरकी सर्वव्यापकता प्रतीत होती है।

संसारकी उत्पत्तिका उपादान और निमित्त दोनों तरहके कारण ईश्वर ही हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराणके सृष्टिनिरूपण-प्रकरणमें लिखा है—

दृष्ट्वा शून्यमयं विश्वं गोलोकं च भयंकरम्।
निर्जन्तुं निर्जलं घोरं निर्वातं तमसावृतम्॥
आविर्बभूवुः सर्वादौ पुंसो दक्षिणपार्श्वतः।
भवकारणरूपाश्च मूर्तिमन्तस्त्रयो गुणाः॥

वेदमें भी लिखा है, 'एकोऽहं बहु स्याम्' ऐसी इच्छामात्रसे सृष्टिका प्रादुर्भाव हुआ है।

यह सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। त्रिगुणकी उत्पत्ति उसी परब्रह्मसे हुई है। अतः सृष्टिका उपादानकारण त्रिगुण है और निमित्त ईश्वरेच्छा है; अतः निमित्तकारण भी वही है।

ईश्वर और जगत्‌के सम्बन्धमें एक विलक्षणता है। ईश्वर सर्वत्र व्यापक होनेपर भी निर्लिप्त है। सांख्यदर्शनमें महर्षि कपिलने प्रकृतिको जगत्‌का उपादानकारण माना और पुरुषको निमित्तकारण। प्रकृति और पुरुष दोनोंको जगत्‌का कारण कहा है। प्रकृतिके लक्षणमें श्रीकृष्णचन्द्रने सांख्यकारिकामें लिखा है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

मूलप्रकृति अर्थात् प्रधान प्रकृति स्वयं किसीकी विकृति नहीं है, अर्थात् किसीसे उत्पन्न नहीं हुई है, इसकी सात विकृतियाँ होती हैं। वे सात विकृतियाँ, स्वयं विकृति होती हुई भी सोलह विकारोंकी प्रकृति भी हैं। सांख्यसूत्रमें महर्षि कपिलने प्रकृतिके लक्षणमें कहा है—

'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थितिः प्रकृतिः'

प्रकृति और पुरुषके संयोगसे ही संसारकी उत्पत्ति है। यह संयोग भी छायामात्रसे है।

स्वयं प्रकृति जड है और पुरुषका स्वरूप चैतन्य है। चैतन्यकी छायासे प्रकृति भी चैतन्यकी तरह हो जाती है और कार्यरूपमें परिणत होते दिखायी पड़ती है तथा इसीका नाम सृष्टि है। जैसे आकाश सर्वव्यापक होनेपर भी किसी गुणसे लिप्त नहीं होता, उसी तरह ईश्वर भी सर्वव्यापक होनेपर भी किसी गुणसे लिप्त नहीं होता।

इस तरह ईश्वर और जगत्‌के सम्बन्धका ज्ञान होना ही मुक्ति कहलाता है। प्राणीमात्रके लिये सांसारिक बन्धन अज्ञान है। हम अपनेको प्रकृतिसे परे केवल चैतन्यरूप समझ जायँ, यही हमारी मुक्ति है। इसीको 'कैवल्य' कहते हैं।

हम प्रकृति नहीं हैं, हम केवल चैतन्य-स्वरूप परब्रह्म हैं, ऐसा समझ लें।

यही जगदीशका जगत्‌के साथ सम्बन्ध है, इसीको जाननेका नाम ज्ञान है। ज्ञानसे ही मुक्ति होती है। लिखा भी है—**'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** ज्ञानके बिना मुक्तिः नहीं है। तपस्या और भक्तिसे ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञानसे मुक्ति अर्थात् कैवल्यकी प्राप्ति होती है।

मेरा भगवान्‌के साथ नित्य सम्पर्क स्थापित हो गया है

भगवान्‌के साथ मेरा नित्य सम्पर्क स्थापित हो गया है। **मैं प्रतिक्षण प्रतिस्थानपर यह अनुभव करता हूँ कि प्रभु नित्य मेरे पास रहते हैं और हर तरहसे मुझे सँभाल रहे हैं। इसीसे मेरे अंदर निर्भयता, अच्छिन्नता, शान्ति, धृति, शक्ति, पुष्टि, तुष्टि, करुणा, प्रेम, उदारता आदि प्रभुके सद्गुणोंका विकास हो रहा है। अब मैं समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो गया हूँ, केवल भगवान्‌से ही बँध गया हूँ; क्योंकि उनके साथ मेरा नित्य सम्पर्क स्थापित हो गया है।**

भ्रष्टाचार इस प्रकार रुक सकता है

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

स्थान-स्थानपर भ्रष्टाचारको लेकर दुःख प्रकट किया जा रहा है । कहीं खाद्यान्नोंमें मिलावट, कहीं रिश्वत, कहीं ब्लैकमार्केट है तो कहीं पक्षपात, झूठे विज्ञापन, चोरी, छल, कपट या धोखेबाजीके नये-नये ढंग देखनेमें आ रहे हैं ।

बाजारमें शुद्ध दूध, घी, आटा, दही मिलना असम्भव-सा हो गया है । सर्वत्र निम्नकोटिकी वस्तुओंकी मिलावट है । हमारे देशके व्यापारी यह नहीं समझते कि व्यापार ईमानदारी और शुद्ध वस्तुओंको बेचनेसे ही पनपता है । चोर-बाजारी, कर न चुकाना, पाकिस्तान आदि विदेशोंसे अवैध व्यापार करना, कम तौलना, मूल्य अधिक बताकर फिर हुज्जत करके कम करना, अच्छा नमूना दिखाकर घटिया देना, असलीमें नकली मिला देना, ग्राहकको ठगनेका प्रयत्न —ये व्यापारिक भ्रष्टाचारके अनेक उदाहरण हैं ।

समाचारपत्रोंमें आये दिन भ्रष्टाचारके समाचार छपते रहते हैं । गतवर्ष बम्बई राज्यमें भ्रष्टाचार विरोधी ब्यूरोने भ्रष्टाचार और दुर्वर्तनके २४३ मामले पकड़े, जिनमें ६७ सरकारी कर्मचारी भी सम्मिलित थे । इनमें २६ मामलोंमें ३५ सरकारी कर्मचारियोंको रिश्वत, गबन या किसी गैर-कानूनी ढंगसे रुपये ऐंठनेके अपराधमें पकड़ा गया है ।

सहारनपुर पिछले ११ दिसम्बर ५८ का समाचार है कि वहाँके १४ गल्लाव्यापारियोंको, एक रेलवे बुकिंगक्लर्क और चार दलालोंको चोरीसे दो लाखका चावल राज्यसे बाहर भेजनेके कथित अभियोगमें गिरफ्तार किया गया । नशीली चीजोंका अवैध व्यापार धड़ल्लेसे चल रहा है । अवैधरूपसे शराब बनाना, या चोरीसे अफीम लाना, गाँजा बेचना आदि-के अनेक समाचार छपते रहते हैं ।

बम्बई-राज्यके पुलिस-विभागके एक मासके भ्रष्टाचारोंकी तफसील देखिये । मासके अन्ततक १०३ मामले पकड़े गये । इनमें २९ मद्यनिषेधके अपराध, तीन जुएके मामले, ६१ बिना परमिटके मोटर चलानेके अभियोग और दस विविध अपराध थे; जैसे सिनेमा-टिकटोंकी चोरबाजारी, धोखादेही, सरकारी सम्पत्तिका उपयोग, इमारतके सामानकी चोरी, औरतोंको बेचने या वेश्यावृत्ति करवानेके मामले ।

ये सब आसानीसे और बिना ठोस श्रम किये धन कमानेके चसकेके कारण हुए हैं । बहुत-से व्यक्ति ऐश्वर्यपूर्ण जीवन, ऐश-आरामकी वस्तुएँ तो चाहते हैं, पर मेहनत और ईमानदारीसे नहीं कमाना चाहते । फलतः भ्रष्टाचारके नये-नये तरीके सोचा करते हैं ।

लोग भ्रष्टाचार क्यों करते हैं ?

बिना मेहनत रुपया बना लेनेका व्यसन या चसका बुरा है । एक बार जिस व्यक्तिको मुफ्तखोरी, कामचोरी, धोखेबाजीकी लत पड़ जाती है तो उसका मन फिर किसी स्थायी काममें नहीं लगता । वह मुफ्तमें ही रुपयेका मालिक बनकर गुलछर्रे उड़ाना चाहता है ।

कुछ व्यक्ति अपनेको अपनी हैसियत या सामाजिक स्तरसे ऊँचा दिखानेमें शान समझते हैं । अंदरसे खोखले रहते हुए भी बाहरसे ऐसा लिफाफा बनाये रखना चाहते हैं कि समाज धोखेमें रहे । कुछ ऐसे हैं जिनकी नशेबाजी, कामुकताकी तृप्ति, फैशन, विलासिता आदिकी आदतें अनियन्त्रित रूपसे बढ़ी हुई हैं । नैतिक आमदनी तो सीमित रहती है । कुछ ऊपरी आमदनी पैदाकर इन बढ़े हुए खर्चोंकी पूर्तिके लिये उनका मन कुलबुलाया करता है । वे सदा ऐसी तरकीबें सोचा करते हैं कि आमदनीके नये जरिये निकाल लें, जिनसे उनकी टीपटाप और बढ़ी हुई इच्छाओं-की पूर्ति होती रहे ।

नैतिक और ईमानदारीसे आयवृद्धि करना आजके बेरोजगारीके युगमें बड़ा कठिन है । फिर मनुष्य श्रमसे जी चुराता है और बिना मेहनत आनन्द लूटना चाहता है । वह अपनी बुद्धि उन उपायोंकी खोज करनेमें लगाता है कि श्रम कम-से-कम करना पड़े, या हो सके तो बिल्कुल ही मेहनत न पड़े, पर आय दुगुनी हो जाय । इस कार्य वह मर्यादा और औचित्यकी सीमाओंको पार कर जाता है । क्षणिक भोग और लालचसे उसकी विवेक-बुद्धि भ्रमित हो उठती है ।

भ्रष्टाचारका सामाजिक कारण मिथ्या प्रदर्शनकी भावना, झूठी शान, वासनापूर्ति या फैशनका सनक और अनावश्यक तृष्णा हैं । भ्रष्टाचारीके मनमें अनावश्यक लोभ बना रहता है, जो उसे अवैध तरीकोंकी ओर ढकेलता है । कुछमें चोरीकी अपराधवृत्ति स्वाभाविक होती है । कुछ आनन्दी जीव होते हैं, जो शराब-पान, वेश्यागमन और होटलके वासना-मूलक

पदार्थोंके इच्छुक होते हैं। कुछ अनाप-शनाप खर्चमें ही अपनी अहं तुष्टि कर पाते हैं। ये सब मानसिक दृष्टिसे रोगी होते हैं।

फजूलखर्ची, विलासिता और आरामतलबी हमारे इस दिखावटी समाजका एक बड़ा दुर्गुण है। यह केवल अमीर और पूँजीवादीवर्ग तक ही सीमित नहीं, प्रत्युत मध्यवर्ग और मजदूरवर्ग, क्लर्क और बाबूवर्गतकमें पाया जाता है।

जितनी आज अपने-आपको अमीर दिखानेकी थोथी प्रवृत्ति पायी जाती है, उतनी पहले कभी नहीं पायी गयी। लोग अपनी ईमानदारीकी कमाईसे संतुष्ट नहीं हैं; वे तो यकायक कम-से-कम समयमें अमीर बन जानेके उपाय (जो प्रायः अनैतिक होते हैं) सोचा करते हैं। वे सट्टा करते हैं, जुवा खेलते हैं, दूसरोंको तरह-तरहसे धोखा देते हैं, ठगते हैं, भ्रष्टाचार करते हैं और रिश्वत उड़ानेका प्रयत्न करते हैं।

शहरोंमें दिखावा और झूठी शान दिखानेकी दुष्प्रवृत्ति सर्वत्र पायी जाती है। आप उसे सड़कोंपर, गलियोंमें, पार्कोंमें, मन्दिरोंमें और सबसे अधिक विवाह-शादियोंके अवसरपर देख सकते हैं। पोशाकका दिखावा और शान कदाचित् सबसे अधिक बढ़ी हुई है। युवक और युवतियोंमें अपने-आपको सजाने, विविध शृंगार करनेकी भावना अनियन्त्रित रूपसे बढ़ती ही चली जा रही है। लोग अपनी आयसे बहुत अधिक व्यय कर दूसरोंपर शान जमाते हैं और उसका दुष्परिणाम व्यावसायिक दिवालियापन, धोखेबाजीके अनेक मुकदमे, विविध अपराध मिल रहे हैं, जिनमें लोगोंको बेईमानी और दूसरोंको ठगनेपर भारी सजाएँ होती हैं।

बाहरी लिफाफा अच्छा रहे। हम अमीर और पूँजीवाले दिखायी दें, यह बहुरूपियापन आज हमारे समाजको भ्रष्टाचारकी ओर आकृष्ट कर रहा है। धोखेबाज दूसरोंपर झूठी शान जमानेमें लगे हुए हैं। वे एक खास किस्मके स्टाइलसे रहना चाहते हैं, खूबसूरत कोठियोंमें निवास करते हैं, दावतें देते हैं, पान-सिगरेटका दौर-दौरा रखते हैं और इन सबके खर्चे पूरे करनेके लिये भ्रष्टाचार ही उन्हें एक सीधा-सा रास्ता दिखायी देता है।

एक वर्ग अंदरसे गरीब है, पर दिखाता है अमीरी। यह निम्न मध्यवर्ग हर तरीकेसे अपनी गरीबीको छिपानेका उपक्रम करता है। वे व्यक्ति कमानेसे पूर्व ही अपनी आमदनी खर्च कर चुकते हैं। उनपर कभी पंसारीका तो कभी कपड़ेवालेका कर्ज चढ़ा ही रहता है। बिजलीके बिल जमा नहीं हो पाते। मकानका किराया चढ़ा रहता है; किंतु फिर भी वे मित्रोंकी दावतें करेंगे और लेन-देनमें कभी कमी न करेंगे। वे मित्र और सम्बन्धी कबतक ऐसे व्यक्तिके साथ रहते हैं ? केवल तब ही तक, जबतक वह ऋण इतना नहीं हो जाता कि अदायगीकी सीमासे बाहर हो जाय। जहाँ वह ऋणमें फँसा कि ऐसे 'खाऊ-उड़ाऊ' व्यक्ति उड़ जाते हैं और इस ऋण-ग्रस्त व्यक्तिसे घृणा करते हैं। फिर उसे कोई नहीं पूछता। कर्ज उसे पेटमें रख लेता है।

हम फैशनके दास बन गये हैं। हम दूसरोंके नेत्रोंसे देखते हैं। दूसरोंके दिमागोंसे सोचते हैं। जैसा दूसरोंको पसंद है, हम वही करते हैं। हम वह नहीं करते जो वास्तवमें हमारी सच्ची स्थिति है, हैसियत है या जो हमारी आमदनी है। हम अंधविश्वासोंके गुलाम हैं। जैसा देने-दिलानेका रिवाज है, हम वैसा ही करनेपर तुल जाते हैं, जब कि हमारे पास पैसा होता ही नहीं और हम अपना घर भी दूसरोंके यहाँ गिरवी रख देते हैं। हम स्वतन्त्ररूपसे विचार नहीं करते, अपना आगा-पीछा नहीं सोचते। हम जिस वर्गमें हैं, उससे इस वर्गकी बड़ी हैसियतका अन्धानुकरण करते हैं। समाज तो दो दिन वाहवाही करके अलग हो जाता है। हम उम्रभर कर्जमें डूबे रहते हैं। हमारे मनमें यह गलत धारणा बन गयी है कि हम यदि ऐसे कपड़े पहनेंगे, ऐसा बनाव-शृंगार करेंगे, सोसाइटीके रस्मों-रिवाजोंका पालन करेंगे, तभी हमें सम्मान्य समझा जायगा। हम मूर्खतामें फँसकर अपनेसे ऊँची आय, हैसियत, संचित पूँजी और ऊँची स्थितिवाले लोगोंके समान जीवन बितानेकी इच्छा करते हैं।

इस प्रकार अनेकानेक समझदार और पढ़े-लिखे व्यक्ति तक कर्ज, दुःख, बेबसी, आत्महत्या, उत्तेजना, अपराध और भ्रष्टाचारकी ओर बढ़ते हैं। खानेकी वस्तुओंमें मिलावट, दूसरोंसे रिश्वत, भोली-भाली जनताको धोखेबाजीसे छलते हैं। अनेक तरीकोंसे ठगते हैं। झूठे विज्ञापन करते हैं, डकैती और हत्यासे भी नहीं चूकते। बार-बार चोरी करनेसे वह हमारी आदतमें शुमार हो जाता है। एक भ्रष्टाचारीको बने ठने देखकर दूसरे भी वैसा ही रंग बदलते हैं। वे भी उन्हें अनैतिक तरीकोंको अपनाते हैं। एक भ्रष्टाचारी दूसरेको भ्रष्टाचारी बनाता है।

भ्रष्टाचारीका धन आठ-दस वर्ष ठहरता है, ग्यारहवें वर्ष लगते ही समूल नष्ट हो जाता है।

अन्यायोपार्जित धन विषके समान होता है। जो अनैतिक और गंदे तरीकोंसे धन कमाते हैं, उनके चारों ओर विष-ही-विष है।

संत टाल्सटाय धनके साथ जुड़ी हुई अनेक बुराइयोंके कारण धनको पाप मानते थे। उनकी पत्नी खाने, उड़ाने, चाटने और दिखावटी जीवनको पसंद करती थी। वह हमेशा नये-नये फैशन और नयी-नयी माँगें पेश किया करती थी। इस तरह दोनोंके स्वभावकी असमानताके कारण उनका जीवन कलुषित बन गया था। यदि और कोई कम आत्म-विश्वासका व्यक्ति होता तो पत्नीको खुश करनेके लिये वह भी भ्रष्टाचारी बन सकता था। दुनियाको छल, कपट और धोखेबाजीसे लूटनेका षड्यन्त्र कर सकता था; किंतु टाल्सटायको भ्रष्टाचारसे बड़ी घृणा थी। उन्होंने सत्य और नैतिकताका सन्मार्ग न छोड़ा। बयासी वर्षकी उम्रमें पत्नीके कलहसे तंग आकर गृह-त्याग किया।

सच है, धन जिनका चाकर है, वे बड़भागी हैं। जो धनके चाकर हैं, वे अभागे हैं।

तमाम पवित्र चीजोंमें धन कमानेकी पवित्रता सर्वोत्तम है।

भ्रष्टाचारका जिम्मेदार हमारा समाज है

भ्रष्टाचारके लिये किसे दोष दें? व्यक्तिको या समाजको? आप कहेंगे व्यक्ति ही मिलावट करता है, रिश्वत लेता है, चोरी, छल, ठगी, धोखेबाजी करता है। इसलिये व्यक्ति ही इस अपराधका जिम्मेदार है, व्यक्तिका ही दोष है।

हम कहते हैं कि भ्रष्टाचारका दोषी व्यक्ति उतना नहीं है, जितना समाज है। समाज व्यक्तिको निरन्तर प्रभावित किया करता है। प्रत्येक समाजमें कुछ निश्चित कायदे-कानून और बँधी हुई रस्मे हैं। व्यक्तिको उन्हींका पालन करना पड़ता है। जिन रस्म और रिवाजोंका समाजमें मान होता है, जिन बातोंको अच्छा और बुरा माना जाता है, समाजका प्रत्येक व्यक्ति उन्हींको स्वभावतः ग्रहण करना चाहता है। उन्हींको धारण करनेमें गौरवका अनुभव करता है।

समाजमें कुछ व्यक्ति तो सादा जीवन व्यतीत करते हैं, पर कुछ दम्भी ऐसे भी होते हैं, जिनके घरमें तो भूजी भाँग नहीं होती, पर वे अपने आपको बड़ी टीपटापसे दिखाते हैं, कृत्रिम बनाव-शृंगार रखते हैं; बाहर कुछ, अंदर कुछ और रहते हैं। ये साज-शृंगार करते हैं, तो समाज इन्हें मान देता है। समाजमें ये लंबी नाक निकालकर चलते हैं। इनकी टीपटाप और विलासको देखकर साधारण स्तरके व्यक्ति भी इनकी नकल करते हैं। लुभावने जीवनकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। समाजमें सब कुछ अनुकरणसे ही चलता है। एकके बाद दूसरा, बस यह लुभावना जीवन ही सर्वत्र परेशान कर रहा है।

उदाहरणके तौरपर हम राजनीतिक जगत्‌में कार्य करनेवाले लोकप्रिय मन्त्रियोंके जीवनको ले सकते हैं। उन्होंने जनताकी सेवाका व्रत धारण किया था। सादा जीवन और कम-से-कम वेतन—यही उनका आदर्श था। वेतन वे केवल पाँच सौ रुपया मात्र लेते थे। कुछ दिनोंतक तो वास्तवमें उनका ऐसा ही जीवन चला, किंतु फिर वे भी उसपर निर्भर न रहे। उनके भी खर्चे बढ़ गये। टीपटाप और दिखावा शुरू हो गया। नयी-नयी कारोंकी मॉडलें बदलने लगीं। उनको भी अपने प्रचार-प्रोपेगेंडाके लिये रुपयेकी जरूरत पड़ने लगी। वे अपने लिये स्थायी आयका प्रबन्ध करनेकी सोचने लगे। यह दिखावा और आत्म-विज्ञापन करनेके लिये उन्हें फालतू धनकी जरूरत पड़ी। बस, उन्होंने भी भ्रष्टाचारमें हिस्सा लेना प्रारम्भ कर दिया। इस रिश्वत तथा ऊपरकी आमदनीसे कुछ व्यक्तियोंने अल्पकालमें लाखोंकी कोठियाँ खड़ी कर लीं, अपने आदमियोंको सरकारी नौकरियोंमें प्रविष्ट करा दिया और मिनिस्टरीमेंसे निकल जानेपर आमदनीका सिलसिला जमा लिया।

समाजमें टीपटापसे रहनेवाले बड़े आदमियोंका विलासिता और फैशनसे भरा हुआ जीवन कम आयवालोंके मनमें ईर्ष्या उत्पन्न करता है। वह अपनी सीमित आमदनीमें अपने खर्चे पूरे कर नहीं पाता। अतः उसके मनमें अतृप्ति बनी ही रहती है। आज जिसे देखिये, वही आय कम होनेकी शिकायत इसीलिये करता है; क्योंकि वह अपनी हैसियत तथा सामाजिक स्तरमें नहीं रहना चाहता, बल्कि अपनेसे [illegible] अमीरों, जागीरदारों, सामन्तों या राजाओंके जीवनका अस[illegible] अनुकरण करता है।

भ्रष्टाचार रोकनेके लिये सुझाव

हम कह आये हैं कि भ्रष्टाचार एक सामाजिक रोग है। समाज ही इस रोगका निराकरण कर सकता है। यदि समा[illegible] प्रयत्न करे तो बहुत जल्दी भ्रष्टाचार समाप्त हो सकता है।

समाजमें ऐसे अवसर बंद कर देने चाहिये, जिनमें कम आयवालोंको बड़ोंके अनुकरण और ईर्ष्याके अवसर मिलते हैं,

या अनावश्यक मिथ्या प्रदर्शनके खर्चे बढ़ते हैं। विवाहोंमें अनापशनाप दिखावा, लेन-देन, ठहराव, दहेजका प्रदर्शन आदि दूसरोंको और भी अधिक व्यय करनेको प्रेरित करते हैं। एक दस हजार व्यय करता है, तो दूसरा उसे नीचा दिखानेके लिये पंद्रह हजारकी योजनाएँ बनाता है। तीसरा कुछ और टीपटाप और प्रदर्शनकी तरकीबें सोचता है। लानत है, उस सामाजिक अनुकरणपर, जो हमें सजीव सत्यसे वञ्चित रक्खे। अपनी असलियत न प्रकट करने दे, अथवा वास्तविकता खोलते हुए मनमें लज्जाका भाव पैदा कर दे।

दहेज या तो दिया ही न जाय, अथवा चेकद्वारा दिया जाय, जिसका प्रदर्शन तनिक भी न हो। विवाहमें कन्याकी शिक्षा, योग्यता, सच्चरित्रता और स्वास्थ्य ही मुख्य है। धन तो नितान्त गौण है। दहेजका प्रदर्शन ही न किया जाय, तो फिर उसके देनेमें कौन गर्वका अनुभव करेगा?

आज हम नारी-जीवनको देखते हैं, तो उसमें भी समाजका ही कसूर पाते हैं। हर एक युवती बढ़िया-बढ़िया राजसी वस्त्र, अधिकाधिक नवीन रंग तथा आकर्षक प्रिंट्स, नाइलोन साड़ियाँ और नयी डिजाइनोंके आभूषण क्यों चाहती है? नये फैशन क्यों बनाती है? मुँहपर क्रीम, पाउडर, सुर्खी इत्यादि क्यों लगाती है? अपनेको सुन्दर दिखानेमें क्यों इतनी तल्लीन है?

इसका कारण वह यह समझती है कि समाजमें इन्हीं वस्तुओंके प्रयोगसे वह सम्माननीय समझी जायँगी। वह यही समझती है कि पत्नीका सजीधजी फैशनमें होना ही सौभाग्यकी बात है। वह बेचारी ऐसे समाजमें रहती है, जिसमें अधिक-से अधिक फैशन बनाना उत्तम समझा जाता है और अर्द्धनग्न [illegible]नेमें पाश्चात्त्य देशोंकी अंधाधुंध नकल की जाती है। समाज [illegible]शनों, इन सौन्दर्य-प्रसाधनोंको महत्त्व देता है। [illegible]से देखता है।

समाजका सम्मान पानेकी भूखमें वह बेचारी जीवनकी अनेक उपयोगी और आवश्यक वस्तुओंका प्रयोग बंद कर देती है। शुद्ध घीके स्थानपर डालडा और दूधके स्थानपर [illegible]का प्रयोग करती है; पर सौन्दर्य-प्रसाधनों, वस्त्रों, फैशनोंमें [illegible] खोलकर व्यय करती है। दोष उस समाजका है जो गलत मूल्योंसे व्यक्तियोंको नापता है और मिथ्या-प्रदर्शनकी ओर गुमराह करता है।

जनताका मन चीजोंको गहराईसे नहीं सोचता। वह तो कच्चा मन रखता है। ऊपरी दिखावेसे ही प्रभावित हो जाता है। वह भी व्यक्तिका मूल्याङ्कन बाह्य प्रदर्शनसे ही करने लगता है। अतः जरूरत इस बातकी है कि समाज ऐसे मिथ्या-प्रदर्शनपर रोक लगाये।

युवक-युवतियाँ समाज और सरकारद्वारा सिनेमा-अभिनेता और अभिनेत्रियोंको सम्मानित होते देखती हैं। अभिनेत्रियोंके सजे हुए फोटो बड़ी शानसे छपते हैं। अखबार उनके रोचक-वृत्तान्त छाप-छापकर जनताका ध्यान उनकी ओर आकर्षित करते हैं। युवक अभिनेत्रियोंके चित्रोंसे सुसज्जित अखबारोंको लिये फिरते हैं। घर तथा दफ्तरोंमें दीवारोंपर उनके चित्र या कैलेंडर सजावट और सम्मानके लिये लगाये जाते हैं। जब युवक या युवती जनताद्वारा दिये गये इस सम्मानको देखती है, तब कन्याएँ स्वयं भी वैसी ही बनना चाहती हैं। इन्हें गुमराह करनेका अपराध उन लोगोंका है, जिन्होंने गलत मान दे-देकर कच्चे दिमागोंको बुरे रास्तेपर डाल दिया है।

समाजने सिनेमाको सार्वजनिक जीवनमें बहुत मान दिया। सिनेमा हमारे दैनिक जीवनका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग बन गया। कच्चे दिमागोंके विद्यार्थियोंने सिनेमामें रोमांस और एडवेन्चरके चित्र देखे। उन्हींका अनुकरण किया। फलस्वरूप यह वर्ग कामुक और रोमाटिक बन गया। विद्यार्थियोंमें अनुशासनहीनता, फैशनपरस्ती, कामुकता और गुंडागर्दीकी भावना फैल गयी।

आवश्यकता यह है कि सिनेमाको घृणाकी दृष्टिसे देखा जाय, अभिनेत्रियोंको अधिक मान न दिया जाय। मनुष्यकी सच्चरित्रता, विद्वत्ता, भलमनसाहत, उद्योग आदिको ही मान दिया जाय। जो-जो व्यक्ति जीवनमें सदाचार, संयम, सद्व्यवहार, त्याग, तपस्या, सादगी और सरलतासे जीवन-यापन करके ऊँचे उठे हैं, उन्हींको समाजकी ओरसे सम्मान दिया जाय। इस प्रकार सही दिशाओंमें सोचने-विचारने और चलनेको प्रोत्साहित किया जाय। यदि समाज सत्यता और शीलगुणको सम्मान देगा तो जनता रुपयेके मोहसे हटकर मानवोचित सद्गुणोंके विकासकी ओर ही श्रम करेगी। उसकी विचारधारा उच्च नैतिक आदर्शोंकी ओर चलेगी। हमें समाजको नयी शिक्षा देनी होगी।

सच्ची शिक्षाका समूचा उद्देश्य समाजको ठीक कार्योंमें

रत कर देना ही नहीं, बल्कि उन्हें ठीक कार्योंमें रस लेने लायक बना देना है। समाजको शुद्ध बना देना है।

सब शुद्धताओंमें धनकी शुद्धता सर्वोत्तम है; क्योंकि शुद्ध वही है, जो धनको ईमानदारीसे कमाता है; वह नहीं, जो अपनेको मिट्टी और पानीसे शुद्ध करता है।

एक विचारकने लिखा है, निस्संदेह ऐसे बहुत आदमी हैं जो अन्यायी, बेईमान, धोखेबाज, अत्याचारी, फरेबी, झूठे, रिश्वतखोर, भ्रष्टाचारी बनकर धनवान् हुए हैं और आज समाजमें सम्मानके पात्र बने हुए हैं। सच जानिये, ऐसे व्यक्ति सुखी और तृप्त नहीं हो सकते। क्या वे इस दौलतके अत्यल्पांशका भी आनन्दसे उपभोग कर सकते हैं?

नहीं, कदापि नहीं। उनकी अन्तरात्मा उन्हें दिनभर और रातभर झिड़की, पीड़ा, संताप और यन्त्रणा देती रहती है।

सामाजिक वातावरण बदलनेकी जिम्मेदारी विद्वानों, विचारकों, लेखकों, सम्पादकों, कवियों, समाज-सुधारकों, राजनीतिक नेताओं और संतोंकी है। ये लोग अपने विचारों, पत्रों और लेखोंद्वारा समाजमें नयी-नयी विचारधाराएँ फैलाते हैं और जनताको विचारकी नयी विधियाँ सिखाते हैं। उचित-अनुचितका विवेक सिखाते हैं। अपने तर्कोंसे कुछ विशेष निष्कर्षोंपर पहुँचते हैं। विवेक कुछ खास व्यक्तियोंका गुण है, चंद बुद्धिशालियोंकी निजी सम्पत्ति है। यदि यह उपदेशक-वर्ग समाजके मूल्योंको सांसारिकतासे हटाकर नैतिकताकी ओर ले जाय तो बड़ा लाभ हो सकता है।

वे सम्पादक, जो फिल्मोंके माध्यमसे कामुकता और शृंगारका प्रचार कर रहे हैं, जनताके शत्रु हैं। जो उच्छृङ्खल स्त्रियोंके आकर्षक-आकर्षक चित्र पत्रोंमें मुखपृष्ठोंपर छाप-छापकर युवकोंको विषय-वासनाकी ओर ढकेल रहे हैं, समाजका बड़ा अहित कर रहे हैं। अपने पत्रोंद्वारा वे जिस व्यक्तिको मान देंगे, शेष आदमी भी वैसे ही बनेंगे। अतः उन्हें चाहिये कि मानव-जातिके नैतिक जीवन-स्तरको ऊँचा उठानेवाले आदर्श पुरुष और नारी-रत्नोंको सम्मान दें। अपने पत्रोंमें उन आदर्श व्यक्तियोंके ही वृत्तान्त, घटनाएँ, कहानियाँ छापें, जिनमें दूसरोंको ऊँचा उठानेयोग्य आदर्श बातें हों। गंदे साहित्य, रोमाँटिक किस्से-कहानियों और निम्न कोटिके साहित्यको पढ़-पढ़कर जनता भ्रष्टाचारकी ओर भटक गयी है। साहित्यका पतन राष्ट्रके पतनका द्योतक है। सच्चा साहित्य वही है, जो मनुष्यका हित करे अर्थात् उसका नैतिक उत्थान करे। विवेकको जाग्रत् करे। मानसिक स्वास्थ्यके लिये विवेक वैसा ही है, जैसा शरीरके लिये स्वास्थ्य। विवेक जाग्रत् होनेसे मनुष्य उचित-अनुचितका अन्तर स्वतः समझने लगता है। सम्पादकोंको ऐसा साहित्य प्रकाशित करना चाहिये, जिससे विवेक जाग्रत् हो और जनता देवत्वकी ओर चले। लेखक ऐसे सात्त्विक साहित्यकी रचना करें, जिससे मनुष्य संयमका पाठ पढ़ें, अपनी सीमित आयमें अपना गुजारा करें और संतुष्ट रहना सीखें। अपनी आवश्यकताओं, वासनाओं और तृष्णाओंको न बढ़ने दें। इस प्रकारकी विचारधारा फैलानेसे सात्त्विक वायुमण्डल बनेगा और उसमें निवास करनेसे समाज भ्रष्टाचार स्वतः त्याग देगा।

मैं भगवान्‌के हाथका यन्त्र बन गया हूँ

मैं हूँ दृढ़, मैं सदा साहसी, हूँ विजयी मैं, हूँ बलवान।
क्योंकि सुदृढ़ता, साहस, जय, बल मुझे दे रहे नित भगवान॥
उनके बिना कहीं कुछ भी मैं नहीं, सर्वथा शून्य समान।
पर वे मुझमें नित्य विराजित सर्वेश्वर बल-बुद्धि-निधान॥
दुर्गुण दुर्विचार दुख मुझको कर पाते न कभी हैरान।
क्योंकि सदा निज संरक्षणमें रखते प्रभु रख अति अवधान॥
सर्वसमर्थ दे रहे प्रभु मुझको गुण-बल निज नित्य महान।
रखते विनयविनम्र सदा, हो पाता नहीं उदय अभिमान॥
जीवन मुक्त नित्य रहता, करता प्रभुके गुण ग्रहण अमान।
प्रभु इंगितसे होता रहता फिर उनका दुनियामें दान॥
करते और कराते प्रभु यह सभी स्वयं आदान-प्रदान।
मैं तो बना यन्त्र हूँ केवल, यन्त्री वे स्वतन्त्र मतिमान॥

मानवमें—देव और दानव

(लेखक—श्रीशैलजानन्दजी झा 'अङ्गार')

ऐसा लगता है कि मानव निश्चय ही देव और दानव—दोनोंके समन्वयका एक अनूठा प्रसाद है। उसने इंसान और हैवान दोनोंका लिबास चढ़ा रक्खा है! उसके स्वरमें देव और दानव—दोनोंका स्वर गूँजता है। उसके लिये जन्नत और जहन्नुम—दोनोंका दरवाजा खुला है।

हम घरसे निकलते हैं। वेदनासे व्यथित, पीड़ासे प्रपीडित एक भिखारिन मिलती है, हमारी आँखें डबडबा आती हैं— हृदय भर-भर आता है। हम उसे हृदयसे आश्वासन देते हैं और उसकी आहके सच्चे साझीदार बन जाते हैं, यही हमारा देवता है।

हम घरसे निकलते हैं। राहमें एक मृगलोचनी मिलती है। उसके कटाक्षसे हमारा हृदय विंध जाता है। हमारा पागल मन गुनगुना उठता है—'ओह! यह तो चाँदनी ही जैसे इंसानकी कायामें ढल गयी हो।' एक पतित कामना उत्पन्न होती है। यही हमारा दानव है।

इस सत्य कथनके प्रमाणमें हजारों, लाखों उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं; किंतु आप केवल इतना [illegible]ही स्मरण रखें कि जो तत्त्व हमारी पुण्य भावनाओंको जगाकर हमें अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है, वह हमारा [illegible]ा है और जो हमें जीवनके पद-पदपर फिसलनेवाले [illegible]गसे ले जाकर महान् गर्तमें गिरानेकी व्यवस्था करता है, वह हमारा दानव है। मानव-मात्रको अन्तःस्थित इस देवत्वको जगाने और दानवत्वको सुलाने या मिटानेके [illegible]यासमें जीवन लगा देना चाहिये। किंतु इस देवत्वके [illegible]गरणके लिये पवित्र सत्संग, सतत सावधान तथा पवित्र संयमकी आवश्यकता है। यह कोई बच्चोंका खेल नहीं है, न गुड़ियोंका ब्याह ही है। यह तो जीवनका वह प्रकाश-स्तम्भ है, जिसके दूरगामी-प्रकाशमें मानवकी आत्मा सर्वथा अविनश्वर हो जाती है—वह अजरामर हो जाता है।

सृष्टि (मानव) स्रष्टाको ढूँढ़ने निकलती है पर राहमें जब उसे कामना, वासना, आसक्ति, ममता, मोह आदिकी दुर्लङ्घनीय घाटियाँ मिलती हैं, तब जैसे उसका सारा धैर्य और उत्साह पानी बनकर बह जाता है। वह निराशा लिये लौट पड़ती है। यहीं दानवताकी विजय है। हमें यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मानवके शिव-संकल्पके सामने देवताको भी झुकना पड़ता है। मानवमें एक विशेष तत्त्व है जो अनन्त है, अगम है, असीम है, अविनश्वर है। यदि वह अपनी सम्पूर्ण अनन्तता लेकर उस अविज्ञेय सत्ताकी खोजमें चल दे, जो वास्तवमें उसका स्व-रूप ही है तो वह सत्ता कबतक दूर—कबतक छिपी रह सकती है? फिर हमें महामानव संत कबीर आदिकी बात भी नहीं भूलनी चाहिये। इस फक्कड़ संतपर अपने प्रियसे मिलनेकी एक धुन सवार थी। इसे रामके बिना पलभर भी चैन नहीं था। होता भी कैसे? साँसके बिना जीवन, जलके बिना नदी, प्रियके बिना प्रियतम, परमात्माके बिना जीवात्माकी क्या सत्ता है? वह चल पड़ा प्रियतमकी खोजमें! पर आह, राह ऐसी पथरीली कि जिसकी उसे कल्पना भी न थी; वह रो पड़ा, परंतु प्रियतमसे तो मिलना ही है, कुछ भी हो—

मिलना कठिन है कैसे मिलौंगी प्रिय आय।
समुझि-समुझि पग धरौं जतनसे बार-बार डिग जाय।
ऊँची गैल, राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय॥

किंतु अन्तमें उसे प्रियतमका प्रकाश मिला—वह मंजिलपर पहुँच गया। रामके खुमारमें वह गा उठा—

हरि मरिहैं तो हमहूँ मरिहैं।
हरि न मरैं हम काहेको मरिहैं?

सत्य है, कबीर मरे भी क्यों? उसमें भी तो रामका ही तत्त्व है।

अतएव हमें भी कबीरकी भाँति ही अक्षय आशा, अदम्य उल्लास और शिव-संकल्पका संबल लेकर देवत्वको जगानेमें लग जाना चाहिये। राहमें काँटे मिलेंगे, पैरमें शूल चुभेंगे, उनकी परवा मत करो। निर्भीक होकर भगवत्कृपाका आश्रय लिये अनन्त शक्तिका महागान गाते हुए बढ़ते चले जाओ; क्योंकि देवतातक पहुँचनेके लिये केवल यही एक राह है। कामकी गुदगुदी हमें मीठी लगती है। इच्छा होती है, इसीमें आजीवन डुबकी लगाते रहें। शिव-संकल्पकी साधना बड़ी कटु लगती है। इच्छा होती है, इसी क्षण इसकी कड़ियोंको छिन्न-भिन्न कर दें।

काम विषगर्भित फूलोंका पालना है, जिससे रोम-रोम स्पन्दित हो उठता है, परंतु अन्तमें वह मार डालता है। साधना शूलोंकी सेज है, जिससे रोम-रोम बिंध जाता है; किंतु हमें इन्हीं काँटोंकी राहसे चलना होगा, पर पहुँच जानेपर साक्षात् अमृतत्वकी प्राप्ति हो जायगी; क्योंकि यहीं प्रियतमकी मंजिल है।

शान्ति चाहते हो तो यज्ञमय जीवन बनाओ

(लेखक—प्रो० श्रीसीतारामजी गुप्त एम्० ए०, पी० ई० एस्० [अवसरप्राप्त])

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
(गीता ३ । १०)

'सृष्टिकर्ता प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञ-सहित प्रजाको रचकर कहा कि यज्ञद्वारा तुमलोग फूलो-फलो और यह यज्ञ तुमलोगोंकी सब इच्छाओंका पूर्ण करनेवाला हो।'

सर्वप्रथम हम सृष्टि, उत्पत्ति तथा यज्ञपर कुछ विचार करते हैं। प्रलय और उत्पत्ति सृष्टिका नियम है। प्रलयके समय सब परमाणु अपने सूक्ष्म अव्यक्त रूपमें परिणत हो जाते हैं अर्थात् सब जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, फल-फूल, वृक्ष-लता आदि नाम-रूपधारी विश्वके सारे पदार्थ अपना नाम-रूप खोकर, अपनी स्थूल-अवस्थाको छोड़कर, सूक्ष्मातिसूक्ष्म मूल प्राकृतिक अवस्थामें पहुँच जाते हैं और कल्पके आरम्भमें उत्पत्तिके समय फिर उनका प्रादुर्भाव होता है एवं इसी प्रकार उत्पत्ति-प्रलयका संसारचक्र चलता रहता है। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
(८ । १८)

'यह सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके समय अर्थात् कल्पके आरम्भमें अव्यक्त प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें अर्थात् प्रलयके समय फिर अव्यक्त—सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं।'

यही भाव निम्नलिखित श्लोकमें भी प्रकट किया गया है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥
(गीता ९ । ७)

तैत्तिरीयोपनिषद्में भी आया है—

असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत।
(२ । ७ । १०)

सूक्ष्म और स्थूलरूपमें प्रकट होनेसे पहले यह जड और चेतनमय सम्पूर्ण जगत् असत् अर्थात्

अव्यक्त रूपमें ही था। इस अव्यक्त अवस्थासे ही यह सत् अर्थात् नाम-रूपमय प्रत्यक्ष जड-चेतनात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है।

परंतु ऐसा नहीं है कि किसी खास दिन और खास समयपर एकदम सृष्टिकी उत्पत्ति अथवा प्रलय हो जाय, यह विकास शनैः-शनैः होता रहता है। बहुत दिनोंकी बात है, जब मैं लाहौर गवर्नमेंट कालिजमें प्रोफेसर था, यह जनश्रुति फैली थी कि अमुक दिन अमुक समय इस सृष्टिकी प्रलय हो जायगी। मैं अपने एक मित्रसे, जो एक कालिजके प्रिंसिपल थे, मिलने गया तो उनको कुछ उदास पाया। पूछनेपर वे कहने लगे कि 'बस जी! अब तो थोड़े ही दिनका जीना है। आपने सुना नहीं कि प्रलय होनेवाली है।' मैंने उनसे कहा कि 'इस सृष्टिकी कितने वर्षोंकी जिम्मेवारी चाहते हैं, लाखों-करोड़ों वर्षोंकी तो मैं दे सकता हूँ।' कहने लगे—'कैसे।' मैंने कहा—'परमेश्वरकी सृष्टिमें विकास (Evolation) है, उपद्रव (Revolution) नहीं।' इसपर उनको काफी शान्ति मिली।

सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक और सर्वज्ञ परमेश्वर सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलयके रूपमें मानव-जातिके कल्याणके लिये निरन्तर एक महान् यज्ञ करते रहते हैं।

यज्ञ क्या है?

देवपूजासंगतिकरणदानेषु　　(निरुक्त)

प्रत्येक कार्यको यज्ञ-रूप बनानेके लिये ये तीन बातें आवश्यक हैं—

(१) देवपूजा—अर्थात् जो कर्म दिव्य आदर्शोंको लेकर सर्वहितार्थ अपने स्वार्थको त्यागकर फलासक्तिके बिना ईश्वरार्पण किया जाय।

(२) संगतिकरण—जिसमें संगठन और संयोग सिद्ध हो। जैसे शरीरके प्रत्येक अङ्गके अपना-अपना कार्य करते रहनेसे सब अङ्गोंका संगठन होकर शरीर बनता है। प्रत्येक व्यक्तिके अपना-अपना नियत कर्म करनेसे समाजका संगठन होता है।

(३) दान—अपनी सम्पत्तिमेंसे देश, काल और पात्रका ध्यान रखते हुए अपना कर्तव्य समझकर दूसरोंकी भलाईके लिये अथवा समाजके संगठनके लिये कुछ देना।

यदि किसी संस्थाके उत्सव या किसी महात्मा संन्यासीके उपदेशका प्रबन्ध करना हो तो उपदेशक तथा श्रोतागणोंके बैठनेके लिये दरियों, कुर्सियों तथा शामियाने और कनातों आदिका प्रबन्ध करनेको स्वयंसेवकोंकी तथा खर्च चलानेके लिये दानियोंकी आवश्यकता होती है। कभी-कभी लोगोंके जूतोंको सुरक्षित रखनेका भी प्रबन्ध करना पड़ता है। इन सब बातोंका प्रबन्ध हो जानेपर ही यह 'यज्ञ' भली प्रकार पूर्ण हो सकता है।

यह जगत् यज्ञमय है और इस सृष्टिमें हर समय यज्ञ होता रहता है। पृथ्वीके आकर्षणसे वायुमण्डल पृथ्वीके ऊपर सैकड़ों मीलकी ऊँचाईतक स्थित है, जो सूर्यकी घातक किरणों तथा उल्कापातोंके भीषण प्रहारोंसे हमारी रक्षा करता है और जीवनप्रदायिनी किरणोंको पृथ्वीके धरातलतक पहुँचने देकर हमें जीवन प्रदान करता है।

सूर्यमें लाखों डिगरी तापमानका तप होता है, जिसके फलस्वरूप समुद्रका जल सूखकर वायुमण्डलमें भाप, बादल आदिका रूप धारण करता है। बादल बरसता है, पृथ्वीकी तपनको शान्त करता है और सारे वनस्पति, वृक्ष, ओषधि और अन्न उत्पन्न करता है। अन्नके आधारपर सब जीव जीते हैं। यह सब एक यज्ञ है। इसका यदि थोड़ी देरके लिये भी अभाव हो जाय तो सृष्टि-नियममें बाधा उत्पन्न होकर सब नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ। यदि पृथ्वी ही अपने आकर्षणको कुछ कम कर दे तो

शनैः-शनैः इसका सारा वायुमण्डल इससे स्वतन्त्र होकर गायब हो जाय। फिर न भाप हो न बादल, न वर्षा न वनस्पति, न अन्न और न जीव, सारी पृथ्वी उजाड़ बियाबान होकर केवल खुश्क पहाड़ अथवा खुश्क मैदान रह जाय।

वैज्ञानिकोंका कहना है कि चन्द्रमाके साथ यही हुआ, उसके आकर्षणके कम होनेसे उसका वायुमण्डल सब गायब हो गया और इसके फलस्वरूप चन्द्रमापर सूखे पहाड़ों तथा बड़ी-बड़ी भयानक दरारोंके सिवा कुछ न रहा। वहाँ न भाप है न बादल, न वर्षा न वनस्पति और न जीव-जन्तु।

बड़े-बड़े वृक्षादि गिरकर और जीव-जन्तु मरकर पृथ्वीके भीतर गलते-सड़ते रहते हैं। यही कालान्तरमें कोयले, तेलके रूपमें मनुष्यको मिलते हैं। पृथ्वीके भीतरसे नमक, सोना, चाँदी और बहुत-सी उपयोगी धातु, लोहा, ताँबा, ऐलोमीनियम आदि और उनसे भी उपयोगी और कीमती अणु शक्ति देनेवाली धातु यूरेनियम, रेडियम इत्यादि निकलते हैं। कोयले तथा तेलसे मनुष्यके कारखाने, रेल, वायुयान और जहाज चलते हैं और पारमाणविक शक्तिसे जहाज, वायुयान, अन्तर्ग्रही रॉकेट चलानेकी योजनाएँ बनायी जा रही हैं।

वैज्ञानिकोंका अनुमान है कि सूर्यका वर्तमान विकिरण-स्तर लगभग एक अरब वर्षतक रह सकता है अर्थात् सूर्यका शक्तिप्रदायक यज्ञ जो अरबों वर्षोंसे जारी है, अरबों वर्षोंतक और भी जारी रह सकता है। कितना महान यज्ञ है यह।

इसके ठीक नियमपूर्वक चलते रहनेमें ही शान्ति है और इसमें थोड़ा-सा भी विघ्न पड़नेसे बड़े भारी उपद्रवका होना निश्चित है। यदि सूर्यका तापमान ही थोड़ा-सा बढ़ जाय तो पृथ्वीके सब जीव-जन्तु जल-भुनकर समाप्त हो जायँ और यदि तापमान थोड़ा-सा कम हो जाय तो बहुत सम्भव है कि सब पदार्थ और समुद्रोंके जल जमकर पत्थरकी तरह ठोस बन जायँ और सब गति समाप्त होकर एक निश्चल संसार बन जाय।

मनुष्यके अपने शरीरमें भी यज्ञ-क्रिया हर समय जारी रहती है। हाथ ग्रासको पकड़ता है और मुखतक पहुँचाता है। मुख उसको दाँतोंसे चबाकर पेटमें भेजता है। इसके बाद पेट और अँतड़ियाँ अपना काम करते हैं। अन्नको पचाकर उसमेंसे लाभदायक सूक्ष्म तत्त्वोंको ग्रहण करके अनावश्यक स्थूल पदार्थोंको बाहर निकाल दिया जाता है। भोजनका सूक्ष्म भाग रक्त, मांस, मज्जा और हड्डीके रूपमें परिवर्तित हो जाता है, जिससे शरीरकी लाखों नस-नाड़ियोंकी और सारे शरीर-की पुष्टि और वृद्धि होती है। इसी प्रकार शरीरके सारे अवयव—आँख, नाक, कान आदि अपना-अपना नियत कर्म करते हैं, जिससे यह शरीर-यात्रा चलती है।

यदि शरीरका कोई भी अङ्ग अपने नियत कार्यके करनेमें प्रमाद करे तो उसका फल सारे शरीरको भुगतना पड़ता है और इस शरीररूपी मशीनके चलनेमें बाधा आ जाती है। जैसे यदि हाथ स्वार्थवश स्वयं ही भोजनको ग्रहण करता रहे और मुखको न पहुँचाये तो शरीरकी कमजोरीके साथ हाथ भी कमजोर हो जायगा और उसके ग्रहण करनेकी शक्ति भी समाप्त हो जायगी। इसी तरह यदि मुख स्वयं भोजन लेता रहे और आगे पेटमें न पहुँचाये तो उसक ग्रहण करनेकी शक्ति भी समाप्त हो जायगी; क्योंकि बहुत भोजन तो उसमें समा भी नहीं सकता और यदि वह प्रमादवश दाँतोंसे बिना चबाये वैसे ही भोजनको आगे ढकेल दे तो भी अजीर्ण होनेसे शरीरके साथ ही उसकी भी हानि होना अनिवार्य है।

स्पष्ट है कि इस शरीर-यात्रारूपी यज्ञकी पूर्तिके

हेतु सब अङ्गोंके लिये अपना-अपना नियत कार्य करना आवश्यक है, तभी शरीरमें शान्ति और नीरोगता आती है और तभी उसकी पुष्टि तथा वृद्धि हो सकती है, जिसके फलस्वरूप वह एक नन्हे-से तीन-चार सेरकी शिशु अवस्थासे एक साढ़े पाँच-छः फुट लंबा डेढ़-दो मन वजनका पूरा मनुष्य बन जाता है।

जो एक व्यक्तिके शरीरकी अवस्था है, वही मानव-समाजकी है। समाजकी उन्नतिके लिये यह आवश्यक है कि उसके सभी व्यक्ति लगनके साथ, बिना किसी प्रमादके, अपना कर्तव्य और धर्म समझकर, भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञाका पालन करते हुए अपने-अपने नियत कर्मोंको करते रहें।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

एक व्यापारी अपनी आजीविका चलाने मात्रके लिये दूसरोंके हितकी भी चेष्टा करता हुआ और लोभका त्याग करके लोगोंको शुद्ध पदार्थ देता है और ईश्वरकी देन समझकर उचित लाभ उठाता है तथा अपनी सम्पत्तिका कुछ भाग दान भी करता है, तो उसका यह कार्य यज्ञमय बन जाता है।

परंतु यदि वह दूसरे लोगोंके अज्ञानका लाभ उठाकर लोभवश लोगोंको धोखा देकर तथा उनको घटिया अथवा मिश्रित माल देकर अधिक लाभ उठाता है, अन्यायसे गरीबोंको लूटकर अपना घर भरता है तो [illegible]का वह अर्जित धन पापमूलक है। न्यायकी [illegible]ाईसे भी धनी होकर मनुष्य यदि उस धनको ईश्वरकी अमानत समझते हुए दान नहीं करता तो उसका यह कार्य चोरीसे कम नहीं है। ऐसे व्यक्तिके लिये भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।

परंतु जो पुरुष प्राप्त वस्तुओंका यथायोग्य उपभोग करता हुआ अवशिष्ट धनको प्रसादरूपमें ग्रहण करता है और उसीमें संतुष्ट रहता है एवं यथावसर दान भी करता है, वह मानव-जीवनका कर्तव्य पालन करता है।

श्रीशङ्कराचार्यजी अपने एक स्तोत्रमें कहते हैं—

यल्लभते निजकर्मोपात्तं वित्तं तेन विनोदय चित्तम्।

एक कर्मचारी या किसी दफ़्तरका अफसर यदि अपना कर्तव्य समझकर अपने दफ़्तरके समयमें, अपने देशकी उन्नतिके भावसे, पूरे तन-मनसे, पूरे समयतक अपना कर्तव्य-कार्य करता है और अपने मातहत क्लर्कोंसे उचित काम लेता हुआ उनको प्रसन्न भी रखता है तो उसका यह कार्य 'यज्ञमय' बन जाता है।

परंतु यदि वह अपना कर्तव्य-कार्य छोड़कर दफ्तरके समयमें अपने मित्रोंसे फोनपर वार्तालाप करता रहता है या मित्रों अथवा सम्बन्धियोंको पत्र लिखता रहता है और दफ्तरके कागज आदि पदार्थोंको निजके कामके लिये प्रयोगमें लाता है तो वह मानो चोरी करता है।

एक डाक्टर या वैद्य रोगियोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनकी सेवाके भावसे ही, उचित पारिश्रमिक लेकर, रोगियोंका पूरा ध्यान रखते हुए उनकी चिकित्सा करता है, लोभवश रोगियोंको दुखी न करते हुए, कम-से-कम औषधकी व्यवस्था करता हुआ उनकी सेवा करता है एवं उस सेवाका अवसर मिलनेके लिये ईश्वरका धन्यवाद करता है तो उसका यह कार्य 'यज्ञमय' बन जाता है।

परंतु यदि लोभवश वह रोगियोंको अधिक औषध देता है अथवा ऐसी औषध देता है जिससे रोगीको नीरोग होनेमें अधिक समय लगे तो भगवान् श्रीकृष्णके कहनेके अनुसार वह चोरी ही है।

एक राजा प्रजाका पालन करता हुआ राष्ट्रकी सारी आय जनताके हितार्थ व्यय करता है और स्वयं थोड़ेमें

ही अपना गुजारा करता हुआ बहुत सादा जीवन बिताता है तो समझो कि उसका जीवन यज्ञमय है और वह अपनी प्रजामें शान्ति स्थापित करनेमें सफल होता है ।

इसके विपरीत यदि वह इन्द्रियोंके वश होकर जनताके धनसे अपना स्वार्थ सिद्ध करता है तो वह तो चोरी करता ही है, वरं उसके अधिकारी भी उसका अनुकरण करते हुए आपाधापीमें पड़कर जनताका अहित करते हैं और सारे राज्यको पापमय बनानेके पापके भागी होते हैं ।

आजकल जब कि सर्वत्र दुःख और अशान्ति बढ़ रहे हैं तथा राष्ट्रोंमें शीत-युद्धकी ध्वनि गूँज रही है, ऐसे समयमें यह अत्यधिक आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनको यज्ञमय बनाकर विश्व-शान्ति स्थापित करनेमें सहयोग दे ।

प्राणियोंमें मनुष्य यह विशेषता रखता है; क्योंकि उसे परमात्माने सत्-असत्का विवेक करनेवाली बुद्धि प्रदान की है । इसीलिये मनुष्य-जन्म देवताओंको भी दुर्लभ कहा गया है । आशा की जाती है कि मनुष्य अपनी बुद्धिको कभी तृप्त न होनेवाले विषयोंसे हटाकर सन्मार्गपर लगायेगा और विश्वमें शान्ति-सुख तथा यथार्थ अभ्युदयके बढ़ानेमें अग्रसर होगा ।

नेत्र खुले रखो

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'आपने यह व्यसन पालकर अच्छा नहीं किया ।' वे मेरे मित्र थे, कांग्रेस-आन्दोलनके सहकर्मी थे । आन्दोलनका समय समाप्त हुए तब अधिक समय नहीं बीता था । दूरके सम्बन्धमें सम्बन्धी भी लगते थे और सबसे बड़ी बात यह कि वे मुझसे स्नेह रखते थे । अतः उनके हाथमें हुक्का देखकर मुझे खेद हुआ था ।

उत्तर-प्रदेशमें हुक्का व्यापक है पर्याप्त दिनोंसे और ब्राह्मणोंके अतिरिक्त अन्य वर्णोंमें उसका इतना सम्मान है कि जातिबहिष्कृत व्यक्तिको 'हुक्के-पानीसे बाहर' कहा जाता है । आगतका स्वागत हुक्केके बिना सम्पन्न नहीं हुआ करता ।

समाजमें रहना है तो उसके शिष्टाचार भी मानने ही पड़ते हैं । हम हुक्का पीते हैं या नहीं, यह भिन्न प्रश्न है; किंतु जो अपने यहाँ आयेंगे, उनके हाथमें ताजी चिलम चढ़ा हुक्का न देनेसे तो काम चलेगा नहीं; वे असंतुष्ट होकर जायँ—अकारण लोकनिन्दा हो, यह किसीको प्रिय नहीं हो सकता । अतः क्षत्रिय होनेके कारण मेरे उन सम्मान्य मित्रके यहाँ हुक्का-चिलम तो रहते ही थे । उनके द्वारका गौरव था—'सेर-सवासेर तंबाकू प्रतिदिन जल जाती है ।' सेवक न हो तो अभ्यागतके सम्मानमें स्वयं चिलम चढ़ा देनेमें उन्हें संकोच नहीं होता था ।

'बड़े-बूढ़े आग्रह करते हैं, तुम्हीं जगा दो ।' उन्हें आज स्वयं तंबाकू पीते पहली बार मैंने देखा था । वे कुछ संकुचित हुए और बहाना बनाया उन्होंने ।

उनका बहाना—इसे बहाना कहना कठिन है । मुझे स्वयं इस परिस्थितिका पर्याप्त अनुभव है । ताजी भरी चिलमका तंबाकू सुलगने न लगे, वहाँतक सम्भवतः पीनेवालेको पूरा स्वाद नहीं आता । प्रत्येक चाहता है कि दूसरे ताजी चिलमको 'जगा' दें । जो बड़े होते हैं, उन छोटोंसे यह आग्रह साधारण बात है । ग्रामोके सरल स्वभाव वृद्ध—वे अनेक बार अत्यधिक आग्रहपर उतर आते हैं—'नहीं पीते तो आजसे सही । अच्छा, केवल दो फूँक ।' अनेक बार अपने नियमकी रक्षाके लिये मुझे दुराग्रही बनना पड़ा है ।

'आप दूसरोंके आग्रहके कारण एक दुर्व्यसन ग्रहण कर लेंगे, ऐसी आशा तो नहीं थी ।' मैंने असंतोष व्यक्त किया । वे सुशिक्षित हैं, सुसंस्कृत हैं; अनेक बार स्वयं मादक द्रव्यों-की हानिपर प्रवचन करते हैं । शराब-गाँजाकी दूकानोंपर

हेतु सब अङ्गोंके लिये अपना-अपना नियत कार्य करना आवश्यक है, तभी शरीरमें शान्ति और नीरोगता आती है और तभी उसकी पुष्टि तथा वृद्धि हो सकती है, जिसके फलस्वरूप वह एक नन्हे-से तीन-चार सेरकी शिशु अवस्थासे एक साढ़े पाँच-छः फुट लंबा डेढ़-दो मन वजनका पूरा मनुष्य बन जाता है।

जो एक व्यक्तिके शरीरकी अवस्था है, वही मानव-समाजकी है। समाजकी उन्नतिके लिये यह आवश्यक है कि उसके सभी व्यक्ति लगनके साथ, बिना किसी प्रमादके, अपना कर्तव्य और धर्म समझकर, भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञाका पालन करते हुए अपने-अपने नियत कर्मोंको करते रहें।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

एक व्यापारी अपनी आजीविका चलाने मात्रके लिये दूसरोंके हितकी भी चेष्टा करता हुआ और लोभका त्याग करके लोगोंको शुद्ध पदार्थ देता है और ईश्वरकी देन समझकर उचित लाभ उठाता है तथा अपनी सम्पत्तिका कुछ भाग दान भी करता है, तो उसका यह कार्य यज्ञमय बन जाता है।

परंतु यदि वह दूसरे लोगोंके अज्ञानका लाभ उठाकर लोभवश लोगोंको धोखा देकर तथा उनको घटिया अथवा मिश्रित माल देकर अधिक लाभ उठाता है, अन्यायसे गरीबोंको लूटकर अपना घर भरता है तो [illegible]का वह अर्जित धन पापमूलक है। न्यायकी [illegible]ईसे भी धनी होकर मनुष्य यदि उस धनको ईश्वरकी अमानत समझते हुए दान नहीं करता तो उसका यह कार्य चोरीसे कम नहीं है। ऐसे व्यक्तिके लिये भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।

परंतु जो पुरुष प्राप्त वस्तुओंका यथायोग्य उपभोग करता हुआ अवशिष्ट धनको प्रसादरूपमें ग्रहण करता है और उसीमें संतुष्ट रहता है एवं यथावसर दान भी करता है, वह मानव-जीवनका कर्तव्य पालन करता है।

श्रीशङ्कराचार्यजी अपने एक स्तोत्रमें कहते हैं—

यल्लभते निजकर्मोपात्तं वित्तं तेन विनोदय चित्तम्।

एक कर्मचारी या किसी दफ़्तरका अफसर यदि अपना कर्तव्य समझकर अपने दफ़्तरके समयमें, अपने देशकी उन्नतिके भावसे, पूरे तन-मनसे, पूरे समयतक अपना कर्तव्य-कार्य करता है और अपने मातहत क्लर्कोंसे उचित काम लेता हुआ उनको प्रसन्न भी रखता है तो उसका यह कार्य 'यज्ञमय' बन जाता है।

परंतु यदि वह अपना कर्तव्य-कार्य छोड़कर दफ्तरके समयमें अपने मित्रोंसे फोनपर वार्तालाप करता रहता है या मित्रों अथवा सम्बन्धियोंको पत्र लिखता रहता है और दफ्तरके कागज आदि पदार्थोंको निजके कामके लिये प्रयोगमें लाता है तो वह मानो चोरी करता है।

एक डाक्टर या वैद्य रोगियोंको भगवान्का स्वरूप समझकर उनकी सेवाके भावसे ही, उचित पारिश्रमिक लेकर, रोगियोंका पूरा ध्यान रखते हुए उनकी चिकित्सा करता है, लोभवश रोगियोंको दुखी न करते हुए, कम-से-कम औषधकी व्यवस्था करता हुआ उनकी सेवा करता है एवं उस सेवाका अवसर मिलनेके लिये ईश्वरका धन्यवाद करता है तो उसका यह कार्य 'यज्ञमय' बन जाता है।

परंतु यदि लोभवश वह रोगियोंको अधिक औषध देता है अथवा ऐसी औषध देता है जिससे रोगीको नीरोग होनेमें अधिक समय लगे तो भगवान् श्रीकृष्णके कहनेके अनुसार वह चोरी ही है।

एक राजा प्रजाका पालन करता हुआ राष्ट्रकी सारी आय जनताके हितार्थ व्यय करता है और स्वयं थोड़ेमें

ही अपना गुजारा करता हुआ बहुत सादा जीवन बिताता है तो समझो कि उसका जीवन यज्ञमय है और वह अपनी प्रजामें शान्ति स्थापित करनेमें सफल होता है।

इसके विपरीत यदि वह इन्द्रियोंके वश होकर जनताके धनसे अपना स्वार्थ सिद्ध करता है तो वह तो चोरी करता ही है, वरं उसके अधिकारी भी उसका अनुकरण करते हुए आपाधापीमें पड़कर जनताका अहित करते हैं और सारे राज्यको पापमय बनानेके पापके भागी होते हैं।

आजकल जब कि सर्वत्र दुःख और अशान्ति बढ़ रहे हैं तथा राष्ट्रोंमें शीत-युद्धकी ध्वनि गूँज रही है, ऐसे समयमें यह अत्यधिक आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनको यज्ञमय बनाकर विश्व-शान्ति स्थापित करनेमें सहयोग दे।

प्राणियोंमें मनुष्य यह विशेषता रखता है; क्योंकि उसे परमात्माने सत्-असत्का विवेक करनेवाली बुद्धि प्रदान की है। इसीलिये मनुष्य-जन्म देवताओंको भी दुर्लभ कहा गया है। आशा की जाती है कि मनुष्य अपनी बुद्धिको कभी तृप्त न होनेवाले विषयोंसे हटाकर सन्मार्गपर लगायेगा और विश्वमें शान्ति-सुख तथा यथार्थ अभ्युदयके बढ़ानेमें अग्रसर होगा।

नेत्र खुले रखो

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'आपने यह व्यसन पालकर अच्छा नहीं किया।' वे मेरे मित्र थे, कांग्रेस-आन्दोलनके सहकर्मी थे। आन्दोलनका समय समाप्त हुए तब अधिक समय नहीं बीता था। दूरके सम्बन्धमें सम्बन्धी भी लगते थे और सबसे बड़ी बात यह कि वे मुझसे स्नेह रखते थे। अतः उनके हाथमें हुक्का देखकर मुझे खेद हुआ था।

उत्तर-प्रदेशमें हुक्का व्यापक है पर्याप्त दिनोंसे और ब्राह्मणोंके अतिरिक्त अन्य वर्णोंमें उसका इतना सम्मान है कि जातिबहिष्कृत व्यक्तिको 'हुक्के-पानीसे बाहर' कहा जाता है। आगतका स्वागत हुक्केके बिना सम्पन्न नहीं हुआ करता।

समाजमें रहना है तो उसके शिष्टाचार भी मानने ही पड़ते हैं। हम हुक्का पीते हैं या नहीं, यह भिन्न प्रश्न है; किंतु जो अपने यहाँ आयेंगे, उनके हाथमें ताजी चिलम चढ़ा हुक्का न देनेसे तो काम चलेगा नहीं; वे असंतुष्ट होकर जायँ—अकारण लोकनिन्दा हो, यह किसीको प्रिय नहीं हो सकता। अतः क्षत्रिय होनेके कारण मेरे उन सम्मान्य मित्रके यहाँ हुक्का-चिलम तो रहते ही थे। उनके द्वारका गौरव था—'सेर-सवासेर तंबाकू प्रतिदिन जल जाती है।' सेवक न हो तो अभ्यागतके सम्मानमें स्वयं चिलम चढ़ा देनेमें उन्हें संकोच नहीं होता था।

'बड़े-बूढ़े आग्रह करते हैं, तुम्हीं जगा दो।' उन्हें आज स्वयं तंबाकू पीते पहली बार मैंने देखा था। वे कुछ संकुचित हुए और बहाना बनाया उन्होंने।

उनका बहाना—इसे बहाना कहना कठिन है। मुझे स्वयं इस परिस्थितिका पर्याप्त अनुभव है। ताजी भरी चिलमका तंबाकू सुलगने न लगे, वहाँतक सम्भवतः पीनेवालेको पूरा स्वाद नहीं आता। प्रत्येक चाहता है कि दूसरे ताजी चिलमको 'जगा' दें। जो बड़े होते हैं, उन छोटोंसे यह आग्रह साधारण बात है। ग्रामोंके सरल स्वभाव वृद्ध—वे अनेक बार अत्यधिक आग्रहपर उतर आते हैं—'नहीं पीते तो आजसे सही। अच्छा, केवल दो फूँक।' अनेक बार अपने नियमकी रक्षाके लिये मुझे दुराग्रही बनना पड़ा है।

'आप दूसरोंके आग्रहके कारण एक दुर्व्यसन ग्रहण कर लेंगे, ऐसी आशा तो नहीं थी।' मैंने असंतोष व्यक्त किया। वे सुशिक्षित हैं, सुसंस्कृत हैं, अनेक बार स्वयं मादक द्रव्यों-की हानिपर प्रवचन करते हैं। शराब-गाँजाकी दूकानोंपर

मधुर

(१)

श्रीकृष्णस्वरूपभूता, श्रीकृष्णप्रेममयी, नित्यरासेश्वरी, नित्यनिकुञ्जेश्वरी, श्रीकृष्णाराध्या और श्रीकृष्णाराधिका श्रीराधिकाजीका श्रीकृष्णानुराग परम विशुद्ध, अनन्य, परमत्याग और पूर्ण-समर्पणमय है। इस प्रकारके दिव्यानुरागका उदय हो जानेपर फिर अन्य किसी भी प्राणी, पदार्थ, परिस्थितिमें—किसी भी गति, सद्गति, परम गतिमें भी कोई भी रति नहीं रह जाती। परम प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर ही उसके तन-मन-वचन-प्राण, भाव-क्रिया-चेष्टा आदि बनकर अपने-आपमें ही सब कुछ करते-कराते रहते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं ही परस्पर परम प्रिय नित्य दो (राधा-कृष्ण) पृथक् रूपोंमें रसास्वादन करते और रसास्वादन कराते रहते हैं। वे ही आस्वाद्य हैं, आस्वादन हैं और वे ही आस्वादक हैं। वे ही वहाँ अविरामरूपसे अतुलनीय अपरिमित दिव्य रस-सुधा बरसाते रहते हैं और उस रस-सुधाकी पवित्र मधुर स्रोतस्विनीमें अवगाहन कर, उस रससुधाका अतृप्त पानकर श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा श्रीगोपाङ्गनाएँ धन्य होती रहती हैं। इसी परम दुर्लभ स्थितिका संकेत विशुद्ध अनन्यानुरागरूपिणी मूर्तिमान् त्यागस्वरूपा श्रीराधाजीके निम्न उद्गारोंमें मिलता है। वे अपनी एक अन्तरङ्गा सखीको सम्बोधन करके कहती हैं—

[illegible] सखी! धन, जन, कुल-परिवार, भवन, अन्य समस्त सुखसाधन, कमनीय कीर्ति, परम सम्मान, इहलोक और परलोकके समस्त भोग-वैभव, लोकोत्तर सद्गति और महान् मुक्ति—इनमें कहीं, किसी भी वस्तुमें, किसी भी परिस्थितिमें मेरा तनिक-सा भी राग नहीं रह गया है। एकमात्र मेरे प्रियतमके पद-कमलोंमें ही मेरा अनुपमेय आत्यन्तिक अनुराग नित्य-निरन्तर छाया रहता है'—

> धन-जन-अभिजन-भवन सकल सुख-
> साधन, कलित कीर्ति, सम्मान।
> इह पर-लोक भोग-वैभव
> लोकोत्तर सद्गति मुक्ति महान॥
> कहीं, किसी भी वस्तु, परिस्थिति-
> में न रहा सखि! रंचक राग।
> छाया नित्य एक अनुपम
> आत्यन्तिक प्रियतम-पद अनुराग॥

'जैसे उपर्युक्त सकल-बुधजनवाञ्छित सुखमय वस्तुओंमें रागका अभाव हो गया है, वैसे ही मुझे अब न तो लोक बिगड़नेका भय रहा है और न परलोक-नाशका ही। नरक-भयका भी किञ्चित् लेश नहीं रहा है; क्योंकि मेरा समस्त जीवन एकमात्र मेरे प्रियतमसे ही परिपूर्ण हो रहा है। दूसरी कोई स्मृति ही कहीं नहीं रह गयी है। मेरे प्रियतम मुझे नित्य नवीन मधुरतम अनुभव कराते रहते हैं, इससे अन्यत्र सर्वत्र ही मेरा त्याग-वैराग्य नित्य नवीन रूपमें प्रकट हो रहा है। नित्य नया-नया रसास्वादन होता है और नित्य नया-नया रसपूर्ण दिव्य प्रेम उदय हो रहा है।

> लोक और परलोक-नाशके
> नहीं नरकके भयका लेश।
> प्रियतम पूर्ण सकल जीवनमें
> रही न कहीं अन्य स्मृति शेष॥
> नित्य नवीन मधुरतम अनुभव
> नित्य नवीन त्याग-वैराग।
> नित्य नवीन रसास्वादन रस-
> पूर्ण दिव्य नव-नव अनुराग॥

'अब मुझे एक प्रियतमके अतिरिक्त कहीं भी, किसीकी भी तनिक-सी भी सत्ताका बोध नहीं होता, जब सत्ता ही नहीं, तब न तो किसीमें कुछ भी राग रह गया है और न कहीं कुछ भी वैर-विरोध—द्वेष ही रहा। विलक्षण बात तो यह हुई कि प्रियतम मेरे मनमें इतने भर गये कि दूसरी किसी कल्पनाके लिये भी मनमें स्थान नहीं रह गया। वास्तव सत्य तो यह है कि अब मेरा

मन ही नहीं रह गया। चित्तवित्तहरण-कुशल प्रेमप्रवीण हरि उसको भी हरकर ले गये।'

सत्ता नहीं किसीकी, कुछ भी,
कहीं नहीं होती कुछ बोध।
अतः किसीमें नहीं बचा कुछ
राग, नहीं कुछ बैर-विरोध॥
नहीं कल्पनाको भी खाली
रहा न कोई मनमें स्थान।
मन भी नहीं रहा अब, उसको
भी हरि हर ले गये सुजान॥

'तब कोई पूछे कि 'फिर तुम्हारे मन-तनके सब कार्य कैसे चल रहे हैं?' तो इसका सत्य उत्तर यह है कि—'मेरे वे प्रियतम ही अपने मनसे अपने मनका और अपने तनसे अपने तनका काम कर रहे हैं तथा वे पूर्णकाम प्रियतम ही अपनी मधुरतम दिव्य कामनाओंको बिना विराम निरन्तर पूर्ण करते रहते हैं। वे क्या करते हैं, क्यों करते हैं, कैसे करते हैं—जब दूसरा कोई है ही नहीं, तब उनसे यह कौन पूछे! वे प्रियतम जब जो मनमें आता है, वही बोलते हैं और मनमें आता है तब मौन हो रहते हैं—'

अपने मनसे अपने मनका,
अपने तनसे तनका काम।
पूर्णकाम प्रिय करते रहते
निज कामना-पूर्ति अविराम॥
क्या करते, क्यों करते, कैसे
करते? उनसे पूछे कौन?
मनमें आता वही बोलते,
मनमें आता रहते मौन॥

'इतनेपर भी वे पृथक्ताका बोध करते हुए स्वयं ही संयोग-वियोग—मिलन-बिछुड़नका अनुभव करते रहते हैं। वे स्वयं ही नित्य नवीन मधुरतम दिव्य रसका भोग करते-कराते रहते हैं। वे मेरे रसिकशिरोमणि प्रियतम सदा दो अत्यन्त प्यारे रसमय रूप बने-बनाये रहते हैं और स्वयं दिव्य रसका पान करते, स्वयं ही रस-पान कराते और नित्य-निरन्तर उपमारहित अपरिमित रसकी वर्षा करते रहते हैं'—

बिलग बोधकर तदपि स्वयं
करते अनुभव संयोग-वियोग।
करते स्वयं कराते रहते
नित नव मधुर दिव्य रस-भोग॥
परम रसिक वे रसमय रहते
बने-बनाये दो प्रिय रूप।
रस लेते, रस-पान कराते,
रस बरसाते अमित अनूप॥

(२)

दिव्य प्रेम-रस-सुधा-पान-प्रमत्त, राधा-रस-वैभव-विमुग्ध, योगीन्द्र-मुनीन्द्र-सुरेन्द्र-वाञ्छित-पदकमलरेणु, नित्य-शुद्ध-बुद्ध, सच्चिदानन्दघन, सत्य-रसस्वरूप भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण अपनी राधा-स्मृतिमयताका वर्णन और राधा-प्रेमके पावन स्वरूपकी झाँकी करते हुए भाव-विह्वल होकर श्रीराधाके सामने यथार्थ सत्य प्रकट कर रहे हैं। वे कहते हैं—

'प्रिये राधिके! तुम्हारी मधुर मनोहर स्मृतिका तार कभी टूटता ही नहीं। तुम्हारी परम रमणीय माधुरी मूर्ति निरन्तर मुझसे मिली ही रहती है। तुमने मुझको अपना बनानेके लिये अत्यन्त विलक्षण त्याग किया, यहाँतक कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—चारों ही अवस्थाओंमें सबको विस्मृत करके केवल मुझमें ही विशुद्ध प्रेम रक्खा'—

प्रिये! तुम्हारी मधुर मनोहर
स्मृतिका होता नहीं विराम।
सदा तुम्हारी मूर्ति माधुरी
रहती मुझसे मिली ललाम॥
मुझे बनानेको अपना, अति
तुमने किया अनोखा त्याग।
जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुरियमें
रक्खा मुझमें ही अनुराग॥

धरना देनेके स्थानीय आन्दोलनका उन्होंने संचालन किया है। उन्हें इतना शिथिल-चरित्र क्यों होना चाहिये।

'इधर पेटमें वायु रहने लगी है।' उन्होंने अब दूसरा बहाना बनाया। 'इससे आराम मिलता है। मैं अभ्यस्त नहीं बनने जा रहा हूँ। दिनमें केवल भोजनके पश्चात्—वह भी दस-पाँच दिनोंके लिये ही है। छोड़ देनेका निश्चय कर रखा है।'

'पेटकी वायुमें लाभकी बात आप मुझसे अधिक जानते हैं।' मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं आवश्यकतासे अधिक रुक्ष हो गया था—'लाभ अधिक है या हानि और स्वास्थ्य मिलेगा या अस्वास्थ्य—यह भी क्या आपको बताना है?'

'मैं हानिकी बात मानता हूँ।' उन्होंने नम्रतापूर्वक कहा—'हानिकी बात समझाता हूँ लोगोंको; किंतु मुझे उसका कोई अनुभव नहीं। एक हल्का-सा अनुभव कर लेना ठीक लगता है मुझे। थोड़ी हानि सही। आप विश्वास मानिये—दस-पंद्रह दिनोंके बाद मैं अवश्य छोड़ दूँगा।'

मैं जानता हूँ—प्रत्येक व्यसन प्रारम्भ करते मन इसी प्रकार भुलावा दिया करता है। ये निश्चय—ये संकल्प कभी पूरे होनेवाले नहीं होते।

× × ×

'आप यहाँ!' उस दिन वे अचानक मिल गये नगरमें। उन्होंने मुझे देख लिया था सड़कपर जाते और मोटर रोककर उतर पड़े थे। बड़े उल्लासपूर्वक मिले। 'घर चलिये!'

बहुत दिनोंपर—वर्षोंके पश्चात् हम दोनों मिले थे। उनका आग्रह मैं टाल नहीं सका। उन्होंने मुझे मोटरमें बैठा लिया। मैंने संकोचपूर्वक पूछा—'आप किसी कामसे [illegible] रहे थे?'

'काम तो जीवनभर साथ लगे रहेंगे।' मैंने देख लिया कि उनके स्वभावमें अब कर्तव्यदक्षता नहीं; एक निश्चिन्तताका भाव आ गया है।

अब वे एक उच्चपदस्थ सरकारी कर्मचारी हैं। विवाह, बच्चे—यह सब तो स्वाभाविक बात है। मेरा अच्छा स्वागत हुआ। बच्चे 'चाचाजी, चाचाजी' करते गोदमें आ बैठे और उनकी पत्नी जिन्हें भाभी कहकर मैंने प्रणाम किया था, जलपान प्रस्तुत करनेमें व्यस्त हो गयीं।

'आप अभी वैसे ही हैं?' उन्होंने पूछा।

'वैसे ही, एकाकी—निर्द्वन्द्व।' मैंने हँसकर कहा और तभी मेरी दृष्टि पलंगके सिरहाने रखी तिपाईपर गयी। 'इसे जेबमें तथा आलमारीमें रखनेसे ही काम नहीं चला करता। सिरपर भी रखना ही पड़ता है।'

'रात्रिमें जब नींद खुल जाती है, इसकी आवश्यकता पड़ती है।' उन्होंने मेरे विनोदका उत्तर गम्भीर स्वरमें ही दिया। 'गृहस्थीमें उलझा जीवन कितना चिन्तित होता है, इसे आप कैसे समझ सकते हैं। यह तनिक चिन्तित चित्तको सहारा देती है।'

केवल सिगरेटका एक पैकेट तथा माचिसकी डिबिया रखी थी वहाँ तिपाईपर। इस सुसंस्कृत नागरिक जीवनमें ग्रामके हुक्केका प्रवेश असभ्यता होती।

कुछ लोग स्वभावसे विवश होते हैं। जहाँ जायँगे पुस्तकें देखीं और उलट-पुलट करने लगे। कम-से-कम नाम देख लेनेका लोभ—यह लोभ मैं भी रोक नहीं पाता। अपने स्वभावके अनुसार उनकी रैकमें लगी पुस्तकें उलटने लगा था मैं और कुछ अधिक मिल जानेकी आशासे मैंने समीपकी आलमारी खोल दी।

'चिन्तित चित्तको सहारा देनेका यह दूसरा साधन—सम्भवतः पहिलेसे अधिक प्रबल!' झटपट आलमारीके किवाड़ लगाकर मैं कुर्सीपर आ बैठा। वे हतप्रभ हो उठे थे। भाभी उसी समय जलपान लेकर आयीं और शीघ्रतापूर्वक उसे रखकर लौट पड़ीं। मैंने इस क्षणार्धमें उस महिलाके भरे नेत्र देख लिये। पति शराबी हो गये हैं—कितनी व्यथा इस स्मरणसे ही एक आदर्श गृहिणीको होती है।

'विवाह न करके आपने अच्छा नहीं किया।' वे अब जलपानके लिये मेरे साथ मेजके समीप आ गये थे। मेरा चित्त दूसरी ओर ले जानेका प्रयत्न करने लगे थे। मेरे निजी जीवनमें रुचि प्रदर्शित कर रहे थे। जलपानमें मेरा उत्साह रह नहीं गया था; किंतु इतने वर्षोंके पश्चात् मिले मित्रके प्रति उनके ही घरपर अशिष्ट होना मैं नहीं चाहता था। उनका आतिथ्य स्वीकार करना था और उनके प्रश्नोंके उत्तर भी देने थे।

'आप श्रीमद्भागवतका पाठ करते हैं और उसे समझते भी हैं।' उन्होंने इस बार अपने तर्कके समर्थनमें एक श्लोकार्द्ध सुना दिया—

'नानुभूय न जानाति पुमान् विषयतीक्ष्णताम्।'

× × ×

मित्रसे विदा होकर मैं चला आया। एक मन्दिरमें ही मैं टिका था। रात्रि-शयनके लिये लेटकर भी निद्रा नहीं आ रही थी। जो लेटते ही पाँच मिनटमें खुर्राटे भरने लगे, उसके लिये नींद न आना—बड़ी उलझन लगती थी। वह श्लोकार्द्ध सिरमें चक्कर काट रहा था—

'नानुभूय न जानाति पुमान् विषयतीक्ष्णताम्।'

पता नहीं कब पलकें बंद हो गयीं। मैं किसी दिव्य देशमें पहुँच गया था। चारों ओर उत्तुङ्ग शिखर—उज्ज्वल हिम-मण्डित उन शिखरोंके मध्य सुविशाल समतल प्रशस्त भूमि और उस भूमिमें स्थान-स्थानपर पाषाण-कुटीरें।

कपिश जटाजूट, विशाल शरीर, आजानुलम्बित भुजाएँ, तेजोदीप्त भाल—उन कुटीरोंमें एक-से तेजोमय, वल्कल-कौपीन तपोधन निवास करते थे। कोई ऋषियोंका ग्राम—आश्रमकी अपेक्षा ग्राम कहना मुझे ठीक लगता है। मैंने वहाँ शिशु देखे मृगशावकोंके साथ क्रीड़ा करते और जगन्माताका गौरव जिनके पादपद्मोंमें गौरवान्वित हो उठे, ऐसी वे ऋषि-पत्नियाँ देखीं। वे तपोधन गृहस्थ थे—गृहत्यागी नहीं।

यज्ञीय कुण्डोंसे कुण्डलाकार उठता सुरभित यज्ञधूम—दिशाएँ पवित्र हो रही थीं और उन्हें निष्कल्मष कर रहा था स्थान-स्थानसे उठता हुआ सस्वर श्रुतिघोष।

मैं समीप चला गया एक कुटीरके। शिलातलपर मृगचर्म पड़ा था और उसपर आसीन थे एक तेजोमय। लगभग दस वर्षके एक मुनिकुमार उनके समीप मेरे देखते-देखते उटजमेंसे आकर बैठ गये।

'तात!' अद्भुत स्वर था मुनिकुमारका। वे पूछ रहे थे—'श्रुति-शास्त्रोंमें अत्यधिक विचित्रता है। उनका समन्वय प्राप्त करना सहज नहीं है। तर्क सत्यका ही निर्णय करेगा, इसका भी विश्वास नहीं और ऋषिगण भी भिन्न-भिन्न मार्गोंके प्रतिपादक हैं। ऐसी अवस्थामें अपना अनुभव ही तो प्रमाणका निर्विवाद आधार होगा?'

'वत्स! विस्मृत हो रहे हो कि जीवन अति अल्प है और अनुभूतिका क्षेत्र अनन्त है!' स्नेह-स्निग्ध सान्द्र गम्भीर स्वर था उन तेजोमयका। 'असत्की दुःखरूपताकी प्रत्येक अनुभूति एक आघात देती है। जीवन चूर्ण हो जायगा यदि वह स्वतःकी अनुभूतियोंसे ही प्रकाश-प्राप्तिका आग्रह करे।'

'तब?' स्वरमें नहीं, ऋषिकुमारके नेत्रोंमें ही यह प्रश्न आया।

'विष मारक होता है—स्वतःके अनुभवसे ही जो इसे जानना चाहेगा, अनुभूतिको सार्थक करनेके लिये क्या वह शेष रहेगा?' एक क्षण रुककर वे बोले। 'परानुभूति शिक्षाका सुलभ साधन क्यों नहीं वत्स? दूसरे जिनसे हानि उठाते हैं—हम देखकर ही जान लेते हैं, हमारे लिये भी वह हानिकर है। नेत्र खुले रखो! देखो और ज्ञानका आलोक तुम्हें स्वयं प्रकाश देगा।'

'नेत्र खुले रखो!' मेरी निद्रा किस कारण भङ्ग हो गयी, यह अब स्मरण नहीं; किंतु उन तेजोमयके वे शब्द अब भी स्मरण हैं और श्रीमद्भागवतका वाक्य—'नानुभूय न जानाति······' यह पुत्र-स्नेहातुर प्रजापति दक्षका वाक्य—आदर्श तो नहीं बन सकती किसी ममतासक्तकी आसक्तिमयी उक्ति!

प्रियतम प्रभुका नित्य सांनिध्य

हटते नहीं एक पल भी वे मुझे छोड़कर प्रियतम श्याम।
सोते-जगते, खाते-पीते हरदम रहते पास ललाम॥
नित्य दिखाते रहते अपनी अति पवित्र लीला सुखधाम।
बाहर, भीतर, तनमें, मनमें देते रहते सुख अविराम॥

मधुर

(१)

श्रीकृष्णस्वरूपभूता, श्रीकृष्णप्रेममयी, नित्यरासेश्वरी, नित्यनिकुञ्जेश्वरी, श्रीकृष्णाराध्या और श्रीकृष्णाराधिका श्रीराधिकाजीका श्रीकृष्णानुराग परम विशुद्ध, अनन्य, परमत्याग और पूर्ण-समर्पणमय है। इस प्रकारके दिव्यानुरागका उदय हो जानेपर फिर अन्य किसी भी प्राणी, पदार्थ, परिस्थितिमें—किसी भी गति, सद्गति, परम गतिमें भी कोई भी रति नहीं रह जाती। परम प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर ही उसके तन-मन-वचन-प्राण, भाव-क्रिया-चेष्टा आदि बनकर अपने-आपमें ही सब कुछ करते-कराते रहते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं ही परस्पर परम प्रिय नित्य दो (राधा-कृष्ण) पृथक् रूपोंमें रसास्वादन करते और रसास्वादन कराते रहते हैं। वे ही आस्वाद्य हैं, आस्वादन हैं और वे ही आस्वादक हैं। वे ही वहाँ अविरामरूपसे अतुलनीय अपरिमित दिव्य रस-सुधा बरसाते रहते हैं और उस रस-सुधाकी पवित्र मधुर स्रोतस्विनीमें अवगाहन कर, उस रससुधाका अतृप्त पानकर श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा श्रीगोपाङ्गनाएँ धन्य होती रहती हैं। इसी परम दुर्लभ स्थितिका संकेत विशुद्ध अनन्यानुरागरूपिणी मूर्तिमान् त्यागस्वरूपा श्रीराधाजीके निम्न उद्गारोंमें मिलता है। वे अपनी एक अन्तरङ्ग सखीको सम्बोधन करके कहती हैं—

'सखी ! धन, जन, कुल-परिवार, भवन, अन्य समस्त सुखसाधन, कमनीय कीर्ति, परम सम्मान, इहलोक और परलोकके समस्त भोग-वैभव, लोकोत्तर सद्गति और महान् मुक्ति—इनमें कहीं, किसी भी वस्तुमें, किसी भी परिस्थितिमें मेरा तनिक-सा भी राग नहीं रह गया है। एकमात्र मेरे प्रियतमके पद-कमलोंमें ही मेरा अनुपमेय आत्यन्तिक अनुराग नित्य-निरन्तर छाया रहता है'—

> धन-जन-अभिजन-भवन सकल सुख-
> साधन, कलित कीर्ति, सम्मान।
> इह पर-लोक भोग-वैभव
> लोकोत्तर सद्गति मुक्ति महान॥
> कहीं, किसी भी वस्तु, परिस्थिति-
> में न रहा सखि ! रंचक राग।
> छाया नित्य एक अनुपम
> आत्यन्तिक प्रियतम-पद अनुराग॥

'जैसे उपर्युक्त सकल-बुधजनवाञ्छित सुखमय वस्तुओंमें रागका अभाव हो गया है, वैसे ही मुझे अब न तो लोक बिगड़नेका भय रहा है और न परलोक-नाशका ही। नरक-भयका भी किञ्चित् लेश नहीं रहा है; क्योंकि मेरा समस्त जीवन एकमात्र मेरे प्रियतमसे ही परिपूर्ण हो रहा है। दूसरी कोई स्मृति ही कहीं नहीं रह गयी है। मेरे प्रियतम मुझे नित्य नवीन मधुरतम अनुभव कराते रहते हैं, इससे अन्यत्र सर्वत्र ही मेरा त्याग-वैराग्य नित्य नवीन रूपमें प्रकट हो रहा है। नित्य नया-नया रसास्वादन होता है और नित्य नया-नया रसपूर्ण दिव्य प्रेम उदय हो रहा है।

> लोक और परलोक-नाशके
> नहीं नरकके भयका लेश।
> प्रियतम पूर्ण सकल जीवनमें
> रही न कहीं अन्य स्मृति शेष॥
> नित्य नवीन मधुरतम अनुभव
> नित्य नवीन त्याग-वैराग।
> नित्य नवीन रसास्वादन रस-
> पूर्ण दिव्य नव-नव अनुराग॥

'अब मुझे एक प्रियतमके अतिरिक्त कहीं भी, किसीकी भी तनिक-सी भी सत्ताका बोध नहीं होता, जब सत्ता ही नहीं, तब न तो किसीमें कुछ भी राग रह गया है और न कहीं कुछ भी वैर-विरोध—द्वेष ही रहा। विलक्षण बात तो यह हुई कि प्रियतम मेरे मनमें इतने भर गये कि दूसरी किसी कल्पनाके लिये भी मनमें स्थान नहीं रह गया। वास्तव सत्य तो यह है कि अब मेरा

मन ही नहीं रह गया। चित्तवित्तहरण-कुशल प्रेमप्रवीण हरि उसको भी हरकर ले गये।'

सत्ता नहीं किसीकी, कुछ भी,
कहीं नहीं होती कुछ बोध।
अतः किसीमें नहीं बचा कुछ
राग, नहीं कुछ वैर-विरोध॥
नहीं कल्पनाको भी खाली
रहा न कोई मनमें स्थान।
मन भी नहीं रहा अब, उसको
भी हरि हर ले गये सुजान॥

'तब कोई पूछे कि 'फिर तुम्हारे मन-तनके सब कार्य कैसे चल रहे हैं?' तो इसका सत्य उत्तर यह है कि— 'मेरे वे प्रियतम ही अपने मनसे अपने मनका और अपने तनसे अपने तनका काम कर रहे हैं तथा वे पूर्णकाम प्रियतम ही अपनी मधुरतम दिव्य कामनाओंको बिना विराम निरन्तर पूर्ण करते रहते हैं। वे क्या करते हैं, क्यों करते हैं, कैसे करते हैं—जब दूसरा कोई है ही नहीं, तब उनसे यह कौन पूछे? वे प्रियतम जब जो मनमें आता है, वही बोलते हैं और मनमें आता है तब मौन हो रहते हैं—'

अपने मनसे अपने मनका,
अपने तनसे तनका काम।
पूर्णकाम प्रिय करते रहते
निज कामना-पूर्ति अविराम॥
क्या करते, क्यों करते, कैसे
करते? उनसे पूछे कौन?
मनमें आता वही बोलते,
मनमें आता रहते मौन॥

'इतनेपर भी वे पृथक्ताका बोध करते हुए स्वयं ही संयोग-वियोग—मिलन-बिछुड़नका अनुभव करते रहते हैं। वे स्वयं ही नित्य नवीन मधुरतम दिव्य रसका भोग करते-कराते रहते हैं। वे मेरे रसिकशिरोमणि प्रियतम सदा दो अत्यन्त प्यारे रसमय रूप बने-बनाये रहते हैं और स्वयं दिव्य रसका पान करते, स्वयं ही रस-पान कराते और नित्य-निरन्तर उपमारहित अपरिमित रसकी वर्षा करते रहते हैं'—

बिलग बोधकर तदपि स्वयं
करते अनुभव संयोग-वियोग।
करते स्वयं कराते रहते
नित नव मधुर दिव्य रस-भोग॥
परम रसिक वे रसमय रहते
बने-बनाये दो प्रिय रूप।
रस लेते, रस-पान कराते,
रस बरसाते अमित अनूप॥

(२)

दिव्य प्रेम-रस-सुधा-पान-प्रमत्त, राधा-रस-वैभव-विमुग्ध, योगीन्द्र-मुनीन्द्र-सुरेन्द्र-वाञ्छित-पदकमलरेणु, नित्य-शुद्ध-बुद्ध, सच्चिदानन्दघन, सत्य-रसस्वरूप भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण अपनी राधा-स्मृतिमयताका वर्णन और राधा-प्रेमके पावन स्वरूपकी झाँकी करते हुए भाव-विह्वल होकर श्रीराधाके सामने यथार्थ सत्य प्रकट कर रहे हैं। वे कहते हैं—

'प्रिये राधिके! तुम्हारी मधुर मनोहर स्मृतिका तार कभी टूटता ही नहीं। तुम्हारी परम रमणीय माधुरी मूर्ति निरन्तर मुझसे मिली ही रहती है। तुमने मुझको अपना बनानेके लिये अत्यन्त विलक्षण त्याग किया, यहाँतक कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—चारों ही अवस्थाओंमें सबको विस्मृत करके केवल मुझमें ही विशुद्ध प्रेम रक्खा'—

प्रिये! तुम्हारी मधुर मनोहर
स्मृतिका होता नहीं विराम।
सदा तुम्हारी मूर्ति माधुरी
रहती मुझसे मिली ललाम॥
मुझे बनानेको अपना, अति
तुमने किया अनोखा त्याग।
जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुरियमें
रक्खा मुझमें ही अनुराग॥

जगत‍्के अपरिमित सुख-ऐश्वर्य और सौभाग्य देनेपर भी तुमने नहीं लिये। जगत‍्के भोगोंकी तो बात ही क्या है, दिव्य लोक और कैवल्यमोक्षमें भी तुमने अनुपमेय वैराग्य रक्खा। भुक्ति-मुक्ति सभीमें वैराग्य हो जाना बहुत ही ऊँची स्थिति है। ऐसे वैराग्य-रसके रसिक भी कोई विरले ही होते हैं; परंतु तुमने तो इस परम विशुद्ध विलक्षण वैराग्यमें भी कुछ भी राग नहीं रक्खा। तुमने इस वैराग्यकी भी परवा नहीं की और मुझमें विशुद्ध मधुर प्रीति की।

नहीं लिया देनेपर भी कुछ
जगका सुख-वैभव-सौभाग्य।
दिव्य लोक, कैवल्य मुक्तिमें
भी रक्खा अनुपम वैराग्य॥
फिर, उस शुचि वैराग्य विलक्षण-
में भी नहीं रखा कुछ राग।
उसकी भी परवाह न की
करके मुझमें विशुद्ध मधु-राग॥

'प्रिये! तुम्हारे मनमें न तनिक भी भोगासक्ति है और न वैराग्यासक्ति ही है। तुमने भोग और त्याग सभीका त्याग करके मुझमें ही अनन्य अनुराग किया। इसीसे मैं तुम्हारा शुद्ध सेवक बना हुआ सचमुच सदा तुम्हारा ऋणी बना रहता हूँ। मुझपर तुम्हारा ऋण बढ़ता ही रहता है; उसे मैं कभी चुका ही नहीं सकता। प्रियतमे! तुम मेरे बाहर और भीतरमें नित्य निरन्तर बसी ही रहती हो।'

नहीं तुम्हारे मनमें भोगा-
सक्ति, नहीं वैराग्यासक्ति।
भोग-त्याग कर त्याग सभी,
की मुझमें ही अनन्य अनुरक्ति॥
बना तुम्हारा शुचि सेवक मैं,
बना ऋणी रहता मैं सत्य।
रहती बसी प्रियतमे! तुम
मेरे बाह्याभ्यन्तरमें नित्य॥

'मैं स्वयं रस-रूप हूँ—रसमय हूँ, परंतु तुम्हारे अत्यन्त सरस निर्मल रसका आस्वादन करनेके लिये सारी मर्यादाका त्याग करके और समस्त श्रुतिसेतुओंका भङ्ग करके मैं नित्य-निरन्तर अत्यन्त ललचाया रहता हूँ। प्रिये! मैं नित्य निष्काम—पूर्णकाम हूँ, परंतु तुम्हारे लिये मैं सहज ही 'कामी' बना रहता हूँ। मैं तुम्हारे रसका सहज लोभी सदा ही तुम्हारे मनोहर रसमें डूबा रहता हूँ।'

रसमय मैं अति स-रस तुम्हारा
निर्मल रस चखनेके हेतु।
रहता नित्य प्रलुब्ध छोड़
मर्यादा, तोड़ सभी श्रुति-सेतु॥
प्रिये! तुम्हारे लिये सहज बन
रहता मैं कामी, निष्काम।
सहज तुम्हारे रसका लोभी—
मैं रस-रत रहता अभिराम॥

जिस रसमें भोग-मोक्षकी विशुद्ध कामनाका भी लेश नहीं रहता, वही निर्मल मधुर रस मुझको विशेषरूपसे आकर्षित करता है। फिर तुम तो उस रससे भी विरक्त होकर केवल मेरे अनुराग-रसकी ही मूर्तिमान् प्रतिमा हो चुकी हो। अतएव तुम अत्यन्त धन्य हो और तुम्हारी कायव्यूहरूपा वे गोपाङ्गनागण भी धन्य हैं, जिनमें इसी अनन्य रसका समुद्र नित्य-निरन्तर भरा लहरा रहा है।

भोग-मोक्षकी शुद्ध कामना-
का भी जिसमें रहा न शेष।
वही मधुर रस निर्मल मुझको
आकर्षित करता सविशेष॥
तुम अति, और तुम्हारी व्यूह-
स्वरूपा गोपीगण भी धन्य।
जिनमें भरा समुद्र इसी
रसका लहराता नित्य अनन्य॥

ऐसे दिव्य प्रेमकी कल्पना भी परम कठिन है!

हमारा सच्चा बल

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी)

संसारके सब प्रकारके बल जिसके सामने परास्त हो जाते हैं, वह है परम प्रभु परमात्माकी कृपाका बल, उनकी दयाका बल और उनके ऊपर विश्वास तथा भरोसेका बल।

भगवान् ही हमारे एकमात्र रक्षक हैं। वे ही हमारे माता-पिता और परम सुहृद् हैं—ऐसा दृढ़ विश्वास जिसके हृदयमें हो गया है, उस परम भागवतके सामने संसारकी सारी शक्तियाँ अपनी शक्ति खोकर हार मान लेती हैं। पाप-ताप-संताप और आसुरी सम्पत्तियाँ तो भय खाकर दूरसे ही नमस्कार करके चली जाती हैं।

भगवान् हमारे हैं, हम उनके हैं, निरन्तर वे हमारे साथ ही हैं—वे हमारा साथ एक क्षण भी नहीं छोड़ते—ऐसा माननेवाला भक्त संसारके भयसे सदाके लिये मुक्त ही है।

परम प्रभुमें विश्वास एक ऐसा महान् बल है, जिसके द्वारा हम सारे विश्वमें विजयी हो सकते हैं। इसीके द्वारा हम सारे सद्गुणोंके भण्डार बन सकते हैं। यही नहीं, असम्भवको सम्भव कर देना भी विश्वासका ही चमत्कार है। संसारभरकी अच्छाइयाँ, संसारभरका ऐश्वर्य तथा संसारभरका सुख-सौन्दर्य हम प्राप्त कर सकते हैं—यदि हम पूर्ण विश्वासी हैं।

विश्वासने ही द्रौपदीकी प्रतिष्ठाकी रक्षा की, विश्वासने ही गजराजको ग्राहके चंगुलसे बचाया। प्रह्लादजीके लिये आगका शीतल होना भी तो विश्वासका ही चमत्कारपूर्ण कार्य है। विषको अमृतमें, आगको जलमें, मृत्युको जीवनमें, शत्रुको मित्रमें, रंकको राजामें, निर्बलको बलीमें, मूर्खको विद्वान्में और लघुको महान्में परिवर्तन करनेकी शक्ति यदि है तो विश्वासमें ही है।

जो भगवान्के भरोसेका त्याग करके संसारके प्राणियोंका भरोसा करता है और अपने बलको भगवान्के बलसे भिन्न मानता है, वह व्यभिचारी और असुर नहीं तो क्या है?

सुमित्रानन्दन लक्ष्मणजीमें जो सारे ब्रह्माण्डको कन्दुकके समान उठा लेने और पृथ्वीपर पटक देनेकी शक्ति थी, वह वास्तवमें भगवान्की ही थी। उन्हींके प्रतापके भरोसे वे गरज रहे थे। सुनिये उन्हींके शब्दोंमें····

जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥
तव प्रताप महिमा भगवाना। को बापुरो पिनाक पुराना॥
तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।

वालितनय अङ्गदजी भगवान् रामके प्रतापके बलपर ही लङ्कापति रावणके दरबारमें भी निर्भीक ही रहे। श्रीरामजीके प्रतापके सुमिरन (स्मरण) करते ही उनमें इतना अपार बल आ गया कि लङ्काके करोड़ों महावीर निशाचर एक साथ मिलकर भी उनके चरणको टस-से-मस नहीं कर सके, यही तो सच्चा विश्वास और सच्ची निर्भरता है।

तासु सभा रोप्यो चरन, जो तौल्यौ कैलास।
स्वामी की महिमा कहौं, सेवक का बिस्वास॥
(दोहावली)

प्रभु प्रताप उर सहज असंका। रन बाँकुरा बालिसुत बंका॥
राम प्रताप सुमिरि मन बैठ सभाँ सिरु नाइ॥
समुझि राम प्रताप कपि कोपा। सभा माझ पन करि पद रोपा॥

महावीर हनुमान्जीमें इतनी शक्ति थी कि वे वीर लक्ष्मण (जो रणभूमिमें मेघनादके बाणसे मूर्छित पड़े थे) की चिकित्साके लिये चन्द्रमाको निचोड़कर अमृत ला सकते थे, भगवान् भुवनभास्करको बाँधकर राहुको उनके पहराके लिये बैठा सकते थे, जिससे उनका उदय होना ही असम्भव हो जाय। यहाँतक कि देवताओं-

के चिकित्सक अश्विनीकुमारको पकड़ लाना, पातालसे अमृतकुण्डको ही उठा लाना—कहाँतक कहा जाय मृत्युतकको भी चूहेकी तरह पटककर मार देना, उनके लिये साधारण खेल था। पर यह सभी कार्य वे कर सकते थे केवल भगवान्‌के बलपर ही।

तुम्हरी कृपा प्रताप तुम्हारेहि नेकु बिलंबु न लावौं।
(गी० सु० का०)

भगवान् रामजीने पूछा—'बेटा हनुमान्! चार सौ कोसके समुद्रको लाँघकर जाना और आना तथा लङ्कामें आग लगाकर उसको स्वाहा कर देना—तुम्हारे लिये कैसे सम्भव हुआ?' निरभिमान हनुमान्‌जी बोले—

प्रभु मुँदरी उस पार लै, चूड़ामणि इस पार।
सीय बिरह लंका जली, सो सब कृपा तुम्हार॥

वाह रे सच्चा विश्वासी।

निषादराजकी सेना महामना भरतजीसे युद्ध करनेको तैयार है और निश्चय है कि श्रीरामके प्रतापसे ही वह अयोध्याकी सारी सेनाको परास्त कर सकती है।

राम प्रताप नाथ बल तोरे। करहिं कटकु बिनु भट बिनु घोरे॥

संसारमें सच्चे विश्वासी जो भगवान्‌के भरोसे ही जीते हैं, वे ही वास्तवमें भगवान्‌के अनन्य भक्त हैं, जिनके पवित्र दर्शनसे ही संसारका कल्याण होता रहता है। विश्वास ही वास्तवमें सच्चा भजन है, जो पाहनसे भी परमात्माको प्रकट कर देता है।

भगवान् सबको सद्‌बुद्धि प्रदान करें।

श्रीश्रीजयदेव महाप्रभु

(लेखक—गोस्वामीजी श्रीयमुनावल्लभजी)

[गताङ्क-पृष्ठ १३१६ से आगे]

कन्दविल्व-प्रत्यागमन

वह बाँकी चितवनभरी झाँकी परम रसाल।
राह चलत हू जिन करी तेहू भये निहाल॥

उत्कलमें दस वर्षका समय बीता, उड़िया जनसमूहकी ममता अत्यन्त बढ़ गयी। वे लोग आपको अपना ही ठाकुर मानकर आपकी सेवा करते रहे। इधर बल्लाल सेनको विश्वास हो गया कि महाप्रभु अब यहाँ नहीं पधारेंगे। वे बहुत व्याकुल होकर कहने लगे—किसी प्रकार लक्ष्मणके विवाहमें तो आपका शुभागमन परमावश्यक है। बुलानेकी पूर्ण चेष्टा होने लगी।

रात्रिमें स्वप्न हुआ और सवेरे ही श्रीलक्ष्मीनारायणकी-सी जोड़ी सामने खड़ी दिखायी दी। घरभरमें प्रसन्नता छा गयी। महारानीने श्रीपद्मावतीका दर्शन कर अपने भाग्यकी प्रशंसा की। आपसे प्रार्थना की—एक बार कन्द-विल्व पधारिये; फिर तो विवाहमें यहीं रहना पड़ेगा। वही सब किया गया। कुमारके विवाहकी तैयारीमें आप श्रीने भी पूरा योग दिया। बड़ी धूम-धामसे दुलहिन घरमें आ गयी। बहू बड़ी ही मिलनसार है। पद्मावतीजीसे उसका ऐसा स्नेह जुड़ गया कि वह हर समय उन्हींके पास बैठी रहने लगी।

महाप्रभु कन्दविल्व रहने लगे, पद्मावती आपकी सेवामें रहती है। राजतिलक हो जानेपर लक्ष्मणसेन ही सारा राजकार्य सँभाल रहे हैं। बड़े महाराज थोड़ी दूर पहाड़ीपर रहते हैं। देवकी प्रबल माया है। महाराज वहाँ एक छोटी जातिकी स्त्रीके वशमें हो गये। यह सुनकर लक्ष्मणसेनने उनसे बिल्कुल ही सम्बन्ध तोड़ दिया।

इस कलङ्ककी कुकथा क्रमशः महाप्रभुजीके कानतक पहुँच गयी। एक दिन लक्ष्मणसेनने आकर श्रीमहाप्रभुसे सब हाल सुनाकर कहा—'कृपानाथ! इस अवस्थामें यह इस प्रकारका कार्य कोई अच्छी चीज थोड़े ही है।' आपने आज्ञा दी—'तुमने जो लिखा-पढ़ी की सो तो ठीक किया। किंतु हम व्रजयात्राको जाना चाहते हैं—अतः हमारी इच्छा है कि हम महाराजको अपने साथ ले जायँ।' लक्ष्मणसेन बड़े प्रसन्न होकर कहने लगे—'भगवन्! आपके सिवा हमारी कौन सुधार सकता है।'

आपश्रीने कहा—'देखो, तुम्हें दो काम करने होंगे। पहिला तो यह कि किसी प्रकार पद्मावतीको समझाकर आदरपूर्वक नयी रानीके पास रखना होगा। दूसरी यह है कि अच्छे-से-अच्छे विद्वानोंको अपने पास रखकर संस्कृत साहित्यका अच्छी तरह अध्ययन करना होगा।' लक्ष्मणसेनने दोनों बातें स्वीकार कर लीं और उन्होंने बड़ी निष्ठाके साथ उनका अच्छी तरह पालन भी किया।

श्रीपद्मावतीजीको समझाकर महारानीके पास छोड़ दिया और आप श्रीलक्ष्मणसेनके इच्छानुसार बूढ़े महाराजके पास पधारे। महाराज आपके दर्शनकर बड़े प्रसन्न हुए। सभी अन्तरङ्ग बातें हुईं और आपकी आज्ञासे उस स्त्रीको कुछ जमीन देकर महारानीसहित राजा श्रीमहाप्रभुके साथ जानेको तैयार हो गये।

श्रीव्रज-यात्रा

व्रज समुद्र मथुरा कमल वृंदावन मकरंद।
व्रजबनिता सब पुष्प हैं मधुकर गोकुलचंद॥

रसिकाचार्य महाप्रभुने एक बार फिरसे जाकर विह्वल हुई पद्मावतीजीको समझाया। कहा कि—'हम थोड़े ही दिनमें आ जायँगे।' फिर भी आपकी दशा शोचनीय-सी हो रही थी। महारानी सचमुच बड़ी गुणवती तथा सुशीला हैं। वे महाप्रभुके चरणोंमें वन्दना करके सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले चुकी हैं। महाराज-जैसे प्रतापशालीका गुण-गौरव कौन कह सकता है। आपने जब सुना कि पिताजी-माताजी महाप्रभुकी सेवामें जा रहे हैं, तब उनसे मिलने गये और आँसू बहाते हुए कहा कि 'महाप्रभुकी कृपासे सब मङ्गल होगा। आप सदा इनकी आज्ञाका पालन करते रहियेगा।'

यात्रा आरम्भ हो गयी। दो दास-दासी सेवामें साथ चले। कई दिनोंमें बंगालसे प्रयाग पहुँच गये। त्रिवेणी-स्नानका अनुपम आनन्द था। कई दिनोंतक महाप्रभु साथ रहे। यहाँ राजदम्पति इतने अस्वस्थ हो गये कि इनका आगे चलना अशक्य हो गया। तब महाप्रभुने इन्हें प्रयागका माहात्म्य बताकर वहीं टिका दिया और वे स्वयं चलने लगे। महाप्रभुके चलते समय महाराज उनके चरण पकड़कर रोने लगे। आपने उनको धीरज दिया और कहा 'नित्य त्रिवेणी स्नान करते रहना।' भलीभाँति समझाकर आप चल दिये।

प्रयागसे कान्यकुब्जमें पहुँचे। वहाँ महाराज जयचन्दने कई दिन आपको रोक रखा। एक नवविवाहिताके मृतपतिको जीवन दान देकर आप श्रीमथुरा पधारे। **'न हि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते'** इस न्यायसे श्रीमान्‌के दर्शनमात्रसे ही लोग अत्यन्त आकर्षित हो जाते थे, किंतु आपका बोलना बहुत कम परिमाणमें ही होता। तदनन्तर कितने ही विद्वान् ब्राह्मणोंको साथ लेकर आपने व्रजयात्रा प्रथम ही चालू की।

उस समयके व्रजवासियोंके स्नेहभरे हृदयका क्या बखान किया जाय। विदेशी-मात्रके लिये भोजन और दूध-माखन घर-घर उपस्थित था।

व्रज चौरासी कोसमें चार गाम निज धाम।
श्रीवृंदावन मधुपुरी बरसानो नँदगाम॥

श्रीवृन्दावन-विलास

मथुरा नन्दग्राम बरसानेका आजका दृश्य नहीं था। श्रीकृष्णलीला-स्थलोंको लोग भूल गये थे। आपको इतना अवकाश कहाँ था जो प्रचार करते; परंतु आप जहाँ भी पधारते, प्राणनाथके परम प्रिय व्रजवृक्षोंसे मिलते। श्रीगोवर्द्धनका चमत्कार बखानते। श्रीयमुनाजीकी महिमाका अपूर्व वर्णनकर गाने लग जाते। प्रेममें बेसुध हो जाते। अश्रुओंके प्रवाहसे आपकी छातीका वस्त्र सदा आर्द्र ही बना रहता। आप आनन्दमें निमग्न रहते।

श्रीवृन्दावनकी वह सघनता आज कहाँ है जहाँ श्रीरसिकाचार्य जयदेवमहाप्रभु मोहित हुए श्रीप्रिया-प्रियतमके केलि-सुखके दर्शनके लिये अकेले ही विचरा करते। उस समय वनस्थलीमें फलों और फूलोंसे लदी लतावलियाँ झुकी रहती थीं। बारहों महीने बसन्त रहता था। आपने अपने श्रीगीतगोविन्दमें उस समयके श्रीवृन्दावनका कैसा मधुर वर्णन किया है।

एक दिन आप केशीघाट होते हुए सघन लताओंमें चले गये। वहाँ श्रीराधामाधवकी एकान्त केलिके दर्शन हुए। दोनों ही सखीसमाजके साथ निधुवनसे 'यमुनाके धीर समीर तीर'पर पधारे। उस स्वरूपका—लीलाका अत्यन्त सरस वर्णन श्रीरसिकाचार्यने किया है।

उसी निधुवनमें आपको जीवनधनकी श्याम-मनोहर-स्वरूप प्रतिमा प्राप्त हुई। आपने उसे श्रीयमुनाजीमें स्नान कराया और हृदयसे लगा लिया। कहीं एक जगह बैठना हो तो उसे श्रीविग्रहको भी बैठाते। पर इन्हें तो घूमना था, अतः उसे भी साथ लिये घूमते फिरते कभी गोकुल कभी रावल। रावल श्रीप्रियाजीका ननिहाल है। वहाँ श्रीराधामाधवकी

शोभा देखकर व्रजवासियोंने आपको भोगके लिये माखन दिया। श्रीराधामाधव कई दिन रावलमें ही विराजते रहे।

जन्माष्टमी गोकुलमें की और श्रीराधाष्टमीको रावलमें फिर लौट आये। यहाँ शरत्पूर्णिमातक रहे। फिर अकस्मात् श्रीजीको लेकर मथुरा आ गये। कार्तिक मासमें श्रीयमुनातटपर बड़ी भीड़ थी। अतः आप बहुत दूर एकान्तमें जाकर शान्तिसे विराजे; परंतु जनताने वहाँ भी तम्बू लगवा दिये। आपको संगीतका बड़ा शौक था। श्रीराधामाधवजीके सम्मुख मधुर-मधुर—

'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव'

—इस सप्तनामी महामन्त्रका कीर्तन प्रारम्भ हो गया। कार्तिक-स्नानके लिये आये हुए स्त्री और पुरुषोंका समाज वहाँ एकत्रित हो गया।

एक माधवस्वरूपमें ही श्रीराधामाधवजीकी दोनोंकी भावना थी। नित्य नवीन शृंगार होने लगा और नित्य नये-नये भोग लगने लगे। सेवा आप अपने हाथसे ही करते थे। "श्रीजयदेवे कृतहरिसेवे" सेवा तो आपकी सर्वस्व थी। जनताको कल्याणदान करनेके लिये ही यह अलौकिक अभिनय था। जितना भी भोग लगता, उसी समय वितरण कर दिया जाता। कलके लिये तो केवल श्रीराधा-माधवजीके सिंहासनपर अभिसारिका भोग ही शेष बचता था।

होली आ गयी। होलीका भाव बहिरंगमें तो प्रह्लादकी बुआका जलना है। वैदिक भाव नवसस्येष्टिका यज्ञ है। किंतु व्रजकी होली इन दोनोंके साथ होते हुए भी दोनोंसे विलक्षण है। वह है श्रीराधामाधवजीका रंग-विहार।

इसके भी दो हिस्से हैं—एक तो वह जिसमें गोपी और गोपोंके बीच गा-गाकर रंग-गुलालका खेल होता है। दूसरा है—नवकुंज-सदनमें श्रीप्रियाजी और श्रीलालजीके साथ उनका अंगजा-परिवार सहचरिसमुदाय गान-वाद्यकर श्रीराधामाधवजीको रंग-तरंगोंसे सराबोर करता है। यहाँपर श्रीराधामाधवजीको यही होली श्रीमहाप्रभु अपने हाथों खिलाते थे।

(श्रीरोहिणी-विवाह)

सुखनाम्ना स्वयं सर्वान् कर्षति हृदयङ्गमः।
कृष्णनामावतारी सः श्रीराधामाधवो मम॥

व्रजयात्रा-व्रजकी होली देखने सदासे ही जनता आती है। यह पुरातन चाल है। संसारकी होली यहींकी नकल है। यमुना-तटपर श्रीराधामाधवजीके यहाँ रंग-गुलालकी धूम मची ही रहती। दर्शनार्थी भी बराबर बने ही रहते थे।

उसी अवसरपर लाहौरसे श्रीभोजदेवजीके मित्र पं० पूर्णचन्द्र-जी सकुटुम्ब व्रजयात्राके लिये आये थे। भक्तिभावके कारण सहज ही वे आपके पास ठहर गये; क्योंकि यहाँ हर समय मेला लगा रहता। आपके दर्शन-चमत्कारसे सभी चकित थे। पण्डित-परिवारको महाप्रसादकी सुविधा हो गयी। वे आपकी सेवामें लग गये। बात-बातमें सब हाल खुला। दोनों ही एक-दूसरेके स्नेह-बन्धनमें बँध गये।

पं० पूर्णचन्द्रजी धनी-मानी व्यक्ति थे। उनके साथ चार आदमी थे—स्त्री, पुत्र, पुत्री और एक सेवक। सभी इस आनन्दमें लाहौरको भूल गये। पुत्र पराशरजी तो श्री-राधामाधवजीके सामने घाटपर दोनों समय बड़े प्रेमसे सोहनी किया करते। सेवक बाहरका काम करता, श्रीरोहिणी बेटी फल-फूल-साग सँभालनेमें लगी रहती और पण्डितजी समय पाकर श्रीमहाप्रभुजीके चरण-संवाहन किया करते थे।

दस महीने बीत गये। सेवा-फलका समय आया। आप-श्रीने एक दिन आज्ञा दी—'पण्डितजी! आपकी सेवासे हम बहुत संतुष्ट हैं। अब जो भी इच्छा हो स्पष्ट माँगो, हम देंगे।' पण्डितजीने कुछ नहीं माँगा। तब रसिकाचार्य-चरणने तीन बार कहा—'माँगो! माँगो! माँगो! मैं तुम्हारा मनोरथ आज अवश्य पूर्ण करूँगा।'

पूर्णचन्द्रजीने कहा—जब श्रीचरण कृपाकी वर्षा ही कर रहे हैं, तब मैं यही माँगता हूँ कि मेरी पुत्री श्रीरोहिणीका आप पाणिग्रहण कीजिये।' सुनकर महाप्रभुजीने कोई उत्तर नहीं दिया। किंतु वाक्य-दानसे विवश होकर मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशीको विधिपूर्वक श्रीरोहिणीजीका पाणिग्रहण किया। पण्डितजीने कन्यादानमें अपने कनिष्ठ पुत्र पराशरको आपकी सेवामें दे दिया। आज पूर्णचन्द्र अपने जीवनका फल पा चुके। वे भगवत्स्वरूप श्रीजयदेव महाप्रभुसे देश जानेकी आज्ञा माँगने लगे। आगे मलमास लग जायगा, इस कारण शुभ मुहूर्तमें आपको विदा किया। श्रीरोहिणीजी तथा श्री-पराशरजी श्रीरसिकाचार्यचरणकी सेवामें रह गये।

(श्रीरोहिणीजीके विषयमें कुछ संकेत)

वर्णितं जयदेवकेन हरेरिदं प्रवणेन।
किन्दुबिल्वसमुद्रसम्भवरोहिणीरमणेन॥

(श्रीगीतगोविन्द, सर्ग ३)

'केन्दविल्व ग्राम आमार समुद्र समान।
समुद्र संभव चन्द्र तैंछे सम जान ॥
रोहिणी नामे ते जथा चन्द्रेर वनिता।
रोहिणीरमण आमि एइ गुप्त कथा ॥ (३)
(बंगला ग्रंथ)

श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजीके पिता श्रीलक्ष्मण भट्टजीकी निर्मित 'वैजयन्ती' नामकी संस्कृत टीका श्रीगीतगोविन्दपर है। उसमें मङ्गलाचरणके तीन श्लोकोंके पश्चात् यह लिखा है—

या रोहिणी निगदिता निजबाल्यकाले
शं नः करोतु युवतिस्तु कलावती सा।
श्रीकृष्णदेवजननी जयदेवपत्नी
पाराशरस्य भगिनी द्विजपूर्णपुत्री ॥ (४)
(वैजयन्ती)

वसतु हृदि युवतिरिव कोमलकलावती (गी० गो० ७ सर्ग)
रतिस्तव कलावती' (गी० गो० १० सर्ग)

श्रीजयदेव महाप्रभुवंशोद्भव श्रीरामराय गोस्वामीने श्रीगीतगोविन्दकी संस्कृत व्याख्या 'वासन्ती' एवं हिंदी 'श्रीगीतगोविन्दप्रिया'में लिखा है—

कन्दबिल्ववासी जयदेवा। करत रोहिणी जिनकी सेवा॥
रामराय जहँ पूजी नारी। कृष्णदेव महतारी॥
सारस्वत द्विजवंश प्रशंसित भोजदेव गुन भारी।
श्रीराधा पत्नी को सँग ले बसे बंग रुचिकारी॥
तहाँ भये जयदेव महाप्रभु श्रीजगदीश मुरारी।
'रामराय' तिन श्यारु पराशर गीतगोविन्द लिखा री॥
(गीतगोविन्द १२ सर्ग—४)

यह ग्रन्थ संवत् १६२२ का बना हुआ है। दो बार छप चुका है।

(दीक्षा-प्रकरण)

दीयते चरमं ज्ञानं क्षीयते पापपञ्जरः।
आब्रह्मभुवनस्याथ तस्माद् दीक्षोच्यते बुधैः॥

रसिकाचार्य-चरितावलीमें आपका दीक्षा-सम्बन्ध श्रीमध्वाचार्यसे मिला दिया गया है; किंतु उसी जगह गो० श्रीप्रियतमलालजीने लिखा है कि श्रीकृष्ण ही आपके दीक्षागुरु थे। इसका प्रमाण आपके पुत्र श्रीकृष्णदेवजीकी निर्मित 'दशश्लोकी गाथा' में है। अतः इतिहासके विपरीत किस प्रकार माना जाय, आपका प्रादुर्भाव ग्यारहवीं शताब्दीमें है—श्रीमध्वाचार्यका प्राकट्य १२ वीं शताब्दीमें है। इससे मेल नहीं मिलता। अब वहाँ जो लिखा है, उसके अनुसार यह है।

श्रीजयदेव महाप्रभुको मथुरा रहते एक वर्ष बीत गया, दूसरी बार फाल्गुन आ गया। फिर भी यहाँसे कहीं भी जानेको चित्त नहीं चाहता था। दिनभर मथुरा और रात्रिमें श्रीवृन्दावनकी सघन लताओंमें शयन होता है। कई भक्त भी आपके साथ एकान्त-सेवन करनेके लिये निर्जन वनमें चले जाते हैं। किसी दिन राजपूतानेके दौसानगर (आमेर) के महाराज श्रीसुमेरसिंहजी तीर्थ-यात्रामें आये। ये आपके सत्सङ्गका लाभ लेने लगे। जहाँ महाप्रभु जाते, ये भी साथ ही रहकर सेवा करते रहते। आपके पास कोई भी आता, सत्यकी पूँजी लेकर आता। इस प्रेमके बाजारमें झूठेका तो शीघ्र ही पास पलट जाता। श्रीरोहिणीजी रसोई करती हैं। पराशरजी बाहरका काम करते हैं। महाप्रभु श्रीराधामाधवजीकी सुखसेवा-सुधाका आनन्द-पान करते रहते हैं। आज लोग सेवाको कुछ ढकोसलामें समझकर अध्यात्मवादपर उतारू हो गये हैं, किंतु सेवाके बिना समयमें सूखापन आ जाता है, अतः—

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा॥
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्।०
(श्रीवल्लभाचार्यमहाप्रभु)

सेवासे परात्पर तत्त्व हाथमें बना रहता है। इसलिये महानुभाव सेवा नहीं छोड़ते।

रसिकाचार्यके यहाँ भेंट बहुत आती है। उसको जो कोई श्रीराधामाधवजीके सम्मुख 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव' इसका जप या कीर्तन करनेवाले आते हैं, उनको भागशः बँटवा देते हैं। इसी कारण हर समय कीर्तन होता ही रहता है।

फाल्गुन शुक्ला एकादशीको दिनभर श्रीजीके सामने होलियोंकी धूम रही। रात्रिको एकान्त-सेवन करने महाप्रभु श्रीवृन्दावनमें पधारे। आपके साथ महाराजा सुमेरसिंह भी हो लिये। नव निधुवन-कुंज-सदनमें आज रंगीली होली थी। गुलालका दर्शन तो महाराजको भी हुआ, किंतु महाप्रभुने इनको सब पहले ही समझा दिया था। इससे ये कुछ न बोलें। सामने देखा तो फलोंका ढेर लगा हुआ है; किसके हैं, यहाँ कौन रख गया—इस चर्चाकी आवश्यकता नहीं। फलाहार कर दोनों सो गये। रात्रिके बारह बजे भगवान् श्रीराधामाधवजी स्वयं पधारे और महाप्रभुको

जगाया। वे हड़बड़ाकर उठ बैठे। देखते हैं तो सम्मुख आप विराज रहे हैं।

श्रीवृन्दावनचन्द्रकी आज्ञा थी कि 'हे सहचरी ! तुम हमारा गुणानुवाद गान करो। तुम्हारे गीतको सुर-नर-मुनि-गन्धर्व सभी गायेंगे और 'क्लीं गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' इसे निरन्तर सेवामें जप करना।' हर्षित होकर आपने कहा, 'प्राणनाथ ! इस गुरुदीक्षाकी दक्षिणा भेंट यही करनी है कि आपका गीत जहाँ भी गाया जाय, वहाँ आप पधारें।' श्रीराधामाधवजी 'तथास्तु' कहकर अन्तर्हित हो गये और महाप्रभु मूर्छा खा गये। ये सब बातें महाराज सुमेरसिंहजी सुन रहे थे। आपने सबेरा होते ही जाग्रत् हुए महाप्रभुसे प्रश्न किया—'कृपासिन्धु ! आधी रात्रिमें आपसे कौन बात कर रहा था ?' आपश्रीने पूछा, 'क्या तुमने देखा' महाराजने कहा 'न तो देखा और न साफ-साफ सुनायी ही दिया कि क्या बातचीत हुई।'

आपने श्रीयमुना-स्नान किया और प्रथम ही वह दशाक्षर श्रीगोपाल-मन्त्र सुमेरसिंहजीको दिया। सुमेरसिंह महाराजपद छोड़कर आपके अनन्य सेवक बन गये। मथुरामें आकर द्वादशीके दिनसे पूर्णिमातक दीक्षाके उपलक्षमें हजार ब्राह्मण साधुओंको श्रीराधामाधवजीका महाप्रसाद लिवाया।

राजपूतानेकी यात्रा

जगन्नाथस्वरूपं स्वं प्रत्यक्षीकर्तुमेव च।
मरुदेशं जगामासौ जयदेवमहाप्रभुः॥(१)

महाराज बहुत दिनसे आग्रह कर रहे थे कि सेवकके यहाँ पधारें। दोलोत्सव कर श्रीरोहिणी पराशरजीको सेवा सँभला दी। कितने ही मथुरावासी तो अवैतनिक सेवा करते रहते थे। अतः आप सबको सावधान कर आमेरके लिये पधारे। आमेरवासी आपके दर्शनसे बहुत प्रसन्न हुए। आपसमें लोग कहने लगे कि 'आप साक्षात् श्रीजगदीशके अवतार हैं। स्त्री-पुरुष पुरुषोत्तमको देखनेके लिये उतावलेसे दिखायी पड़ रहे हैं। घर आयी गङ्गा किसे अच्छी नहीं लगती ? इसी प्रकार दूर-दूरसे जनता आती ही जाती थी। यों एक मास बीत गया।

प्रेमी भक्तोंके साथ मिलकर एक दिन महाराजने बड़े ही आदरके शब्दोंमें महाप्रभुसे प्रार्थना की—'नाथ ! मेरे आप गुरुदेव तो हैं ही; किंतु साक्षात् जगदीशावतार भी हैं। श्रीजगदीशके श्रीअङ्गमें हाथ-पैरोंके पंजे प्रत्यक्ष नहीं दीखते और आपश्रीके तो दृष्टिगोचर होते हैं। इसका कारण सेवकको समझाना चाहिये।' आप हँसकर चुप हो गये, परंतु महाराज आगे कहें या न कहें, आपके साथ आये हुए भक्तजन इस शंकाका समाधान अवश्य चाहते थे। फिर भी आपने बात इधर-उधर करके टाल दी।

एकादशीका दिन था। उन भक्तोंने समीपवर्ती दो ही कोसपर दूसरे ग्राममें कीर्तनके लिये आपको बहुत आग्रह करके पधराया। ग्राममें 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव' इस महामन्त्रका खूब कीर्तन हुआ। बहुत-सा द्रव्य भेंटमें आया। रातके दो-तीन बजे तक कुछ भावुक कीर्तन करते रहे, किंतु थोड़ेसे अवसरमें वे भी निद्रा देवीकी गोदमें लुढ़क गये। आपने उस आये हुए धनको वस्त्रमें बाँधा और तीन बजे अँधेरेमें पहाड़ियोंमें होकर आमेरके लिये चल दिये। मार्गमें चोरोंने आपको पकड़ लिया। आपने सब धन उनको दे दिया· फिर भी उन निर्दयी चोरोंने आपके हाथ-पैरके आगेके हिस्से काटकर आपको कुएँमें डाल दिया। आपने वहीं 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव'—इस मन्त्रका मधुर स्वरमें कीर्तन प्रारम्भ कर दिया।

सबेरा होनेको ही था। वैशाखका महीना, महाराज वायु-सेवनके लिये वनमें पधारे थे। कुएँसे कीर्तनकी ध्वनि सुनकर महाराजने सेवकोंको भेजा—'देखो तो कुएँमें कीर्तन कौन कर रहा है ?' देखा तो आप कुएँमें हैं। बाहर निकाला। महाराज आपकी उस स्थितिको देखकर रोने लगे—'हाय ! यह किस दुष्टने किया, महाप्रभो ! आपने देखा तो होगा वे लोग कैसे थे।' आप चुप हो गये। महाराजने पालकीमें शयन कराकर महलोंमें पधराया और आदमी भेजकर मथुरासे श्रीराधामाधवजी तथा श्रीरोहिणी पराशरको बुलवाया।

महाराजने आपकी ओषधि तो करायी, किंतु कभी-कभी रोकर कहने लगते—'नाथ ! मैं आत्महत्या कर लूँगा, मेरा इस अपराधसे कभी उद्धार नहीं होगा, यदि पहिले ही आदमियोंका प्रबन्ध हो जाता तो यह स्थिति सामने क्यों आती।'

महाप्रभुने आज्ञा दी—'शान्तिपूर्वक धैर्य धारणकर श्रीराधामाधवजी तथा साधु-संतोंकी सेवा करो। हमारा यही उत्तम उपचार है।' उसी दिनसे महाराजने आपके आदेशका दृढ़-

प्रतिज्ञ होकर पालन किया। साधु-संतोंकी सेवाका समाचार सारे देशमें फैल गया। कोई भी तिलक-कंठीवाला आता, महाराज सबका सत्कार करते थे।

उन चोरोंने विचारा, साधु बननेमें क्या लगता है, चलो, राजासे धन ले आयें। बहुत-सी कंठी-माला पहिन ली। लंबे-लंबे तिलक लगाकर जैसे ही श्रीराधामाधवजीके मन्दिरमें बढ़े कि महाप्रभुको देखकर लौटने लगे। आपने सिपाहियोंको भेजकर इन्हें आग्रहपूर्वक बुलवा लिया। इतनेमें महाराज भी आ गये। आपको देखते ही चोर काँपने लगे। तब पूछा—'ये संत कहाँसे पधारे हैं?' महाप्रभुने तुरंत ही कहा—'ये हमारे गुरुभाई हैं।' आपके गुरुभाई आये हैं, यह सुनकर सभीको बड़ी प्रसन्नता हुई और भावभरी सेवा प्रारम्भ हो गयी। चोर बड़े ही व्याकुल थे कि अब मृत्यु आयी। बार-बार महाराजसे कहते 'हमको जल्दी जाना है।' सब कुछ कहते-सुनते भी आठ दिनमें बिदाई हुई।

महाराजने चार लाख रुपये भेंटमें दिये और ऊँटोंपर लदवाकर रक्षाके लिये साथमें सिपाही दिये। कहा—'जहाँ आप आज्ञा करें पहुँचाकर आओ।' गाँवसे बाहर आकर सिपाहियोंने कहा—'हे साधु महाराजो! हमारे यहाँ मन्दिरमें संत तो नित्य ही आते हैं, परंतु महाप्रभुने सेवा तो आपकी-जैसी किसीकी भेट-बिदाई नहीं करायी। इसका क्या कारण है?'

उन कृतघ्न नीच चोरोंने कहा—'अरे भाई! यह लूला-लँगड़ा जो पड़ा है, जिसे तुम महाप्रभु कहते हो, बड़ा चोर है। यह चोरीमें पकड़ा गया था और इसे फाँसीकी सजा बोली गयी थी, किंतु हमने इसके हाथ-पैर कटवाकर छुड़वा दिया। इसकी जान बचा दी। यह बात खुलने न पावे—इसीके लिये इसने हमारी इतनी सेवा करायी है।' चोरोंके इतना कहते ही कड़ककर बिजली गिरी, जमीन फट गयी और देखते-ही-देखते चारों चोर उसमें समा गये। अत्यन्त आश्चर्यमें डूबे हुए सिपाही धन लेकर वापस लौट आये और उन्होंने सारा हाल महाराजा साहबको सुनाया। महाप्रभु सुनकर बड़े दुखी हुए और मानो हाथ-पैर मींजने लगे। इतनेमें ही उनके हाथ-पैरोंके पंजे पूर्ववत् निकल आये। श्रीरोहिणी-पराशरजीकी आज बोली निकली। इस अद्भुत दृश्यको देखकर महाराजाको महान् हर्ष हुआ। वे बोले—'प्रभो! अब सारी बात मेरी समझमें आ गयी। आपने यह लीला दिखाकर अपने श्रीजगन्नाथस्वरूपका दर्शन करवाया है। महाप्रभो! आज सेवक कृतार्थ हो गया।'

(क्रमशः)

तू और मैं

क्या निपट पाषाण समझूँ,
जब बने भगवान मेरे,
सृष्टिकी हर नवल कृतिमें,
दिख रहे हैं रूप तेरे॥ १॥

शून्य नभपर दृष्टि बाँधे,
मग्न हूँ मैं ध्यान तेरे,
दूरसे मुसुका रहा तू,
रो रहे जब प्राण मेरे॥ २॥

दीप, अक्षत, पुष्प कुछ भी
तो नहीं है पास मेरे,
जानती हूँ सिर्फ इतना,
प्राण आश्रित एक तेरे॥ ३॥

अन्यका कब ध्यान मुझको,
सिर्फ तुम हो एक मेरे,
चाहती थी छोड़ जगको,
शीघ्र पहुँचूँ पास तेरे॥ ४॥

किंतु तूने ही कहा था,
जी जरा ओ! जीव मेरे।
चाहता हूँ देखना मैं,
दूरसे ही कार्य तेरे॥ ५॥

इसलिये मैं कर रही हूँ,
कर्म हो निष्काम तेरे,
एक दिन निश्चय सुनोगे,
भक्तकी, भगवान्! मेरे॥ ६॥

—'शान्ता भार्गव'

प्रकाशकी काली ज्योति

(The Black Light)

नयी योजना, नये कार्यक्रम, नारे नूतन 'करो विकास'।
बढ़ा जा रहा, पर इस 'काली तिमिर ज्योतिका समल प्रकाश'॥
मान रहे उत्थान पतनको, करते पाप पुण्यके नाम।
मिटा जा रहा शान्ति-सरल-सुख, हुआ जा रहा काम-तमाम॥

(लेखक— श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

बम्बईसे प्रकाशित ९ मई ५९ के अंग्रेजी साप्ताहिक 'ब्लित्स' में जमशेदपुरमें बीमारोंकी बढ़ती तथा उनकी उचित परिमाणमें सेवा वर्तमान सरकारी अस्पतालद्वारा उपलब्ध न होनेके कारण एक नया अस्पताल अमेरिकाकी 'कृपालु भगिनी'* मण्डलीकी ओरसे खोले जानेकी योजना-का समाचार छपा है। समाचारमें साथ ही बताया गया है कि प्रचलित इलाज बहुत महँगा होनेसे जनसाधारण वहाँके सरकारी अस्पतालसे संतोषप्रद लाभ नहीं उठा पाते। यह सब सेवाके नामपर कैसा वैज्ञानिक व्यवसाय है !†

बम्बईसे प्रकाशित साप्ताहिक अंग्रेजी 'ब्लित्स' के ९ मई ५९ के अंकमें अफ्रिकाकी आदिवासी काली जातिकी दुर्दशाका समाचार विस्तारसे छपा है, जिसमें बताया गया है कि उन्हें खेती-बागवानी अथवा स्वयंका घर बनानेके लिये सदा अधिकारयुक्त अचल सम्पत्तिके रूपमें भूमिका मालिक बनकर रहनेके लिये जमीन नहीं दी जाती। वे अपने ही देशमें अपने लिये भूमि नहीं खरीद सकते, मालिक नहीं बन सकते। सब भूमि गोरी जातिके सरकारकी है। गोरी बस्तीमें कालोंको प्रवेशाधिकार या बसनेका अधिकार नहीं है। गोरोंकी शिक्षा तथा अन्य संस्थाओंमें कालोंको सदस्यता नहीं मिलती। कालोंसे कठोर परिश्रम दिनकी जलती धूपमें निर्दयतापूर्वक कराया जाता है। जैसे हमारे भारतमें गाड़ीमें जुते बैलों अथवा घोड़ोंको चाबुक मारकर चलाया जाता है उसी प्रकार काले मजदूर नंगे पाँव, नंगे बदन किसी हथियार-के बिना नंगे हाथ-पंजे अँगुलियोंसे खेतोंमेंसे आलू खोदते निकालते हैं, उनके झुंडमें देख-रेखके लिये गोरा मुकादम नियुक्त रहता है, जो उनपर चाबुकका भी उपयोग करता है। इस जातिका कोई नाम-व्यक्तित्व नहीं है। उन्हें अधिक शिक्षा और विदेशी ज्ञान नहीं दिया जाता एवं महानीच समझा जाता है। बताया जाता है कि तुम केवल सेवा करो, हुक्म मानो, अक्ल मत बढ़ाओ, तुम इसीलिये पैदा हुए हो। गोरोंका कालोंपर प्रभुत्व हमेशासे चला आ रहा है। ब्रिटेनकी शासन-पद्धति 'जन-प्रेरित जन-हितार्थ' डेमोक्रेसी है, जिसे ब्रिटेनके लोग बड़े अभिमानसे सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इस सर्वश्रेष्ठ पद्धतिका नमूना अफ्रिकामें नग्नरूपमें देखनेको मिलता है। केवल शासित अफ्रिकामें ही नहीं, स्वयं ब्रिटेनमें यत्र-तत्र वहाँके अधिकारियोंद्वारा कानून और न्यायरक्षाकी आड़में रोज बहुत-से अन्धेरपूर्ण व्यवहार दुखी, रोगी, पागल और निरपराध जनतापर होते हैं, जिनके समाचार अखबारोंमें कदाचित् ही छपते हैं।

एडिनबर्ग (स्काटलैंड) में एक दिन संध्या समय अपनी मोटर चलाते एक महाशय सिर-दर्द और थकानके कारण एकान्त जगहमें सड़कके किनारे मोटर रोककर अपनी जगह बैठे हुए ही जरा आँखें बंदकर कुछ आराम लेने लगे। चलते-फिरते पुलिसवालेने एकान्त स्थानपर अकारण मोटर खड़ी और चालककी उस अवस्थाको देखकर समझा कि यह नशेमें है। बस, अन्य सहयोगी पुलिसको बुलाकर मोटरसे उक्त मालिक चालकको घसीट बाहर निकाला और उसके इस आकस्मिक व्यवहारसे घबराकर बहुत कुछ कहने-सुननेपर भी पुलिसने कुछ न सुना, माना। उसे थप्पड़-मुक्कों-सहित ले जाकर उसे पुलिसकी जालीमें बंद कर दिया। यह समाचार किसी अखबारमें नहीं छपा। मुकदमा चला, तब सबूतके दिन एक राह चलती दर्शक युवतीके बयानसे पुलिसका अपराध सिद्ध होनेपर उस कल्पित अपराधीको मुक्ति मिली।

---

* Sisters of Mercy.

† बम्बईके एक उपनगरमें अभी एक नया अस्पताल जो धर्मार्थ सेवाके नामसे खुला है, परंतु वहाँ भी नकद दूकानदारी ही होती है। गवर्नमेंट धर्म-निरपेक्ष हो तो धर्मार्थ कुछ भी कहाँसे हो और धन कहाँसे आये ?

ऐसी ही घटनामें एक निरपराध किसान मारा गया। उसे कुछ मानसिक रोग था। घरकी रोज होती-बीती बातोंसे भावुक होनेके कारण उसे कभी बड़ी परेशानी होती तो वह बाहर घूमने निकल जाता, कभी ठीक होकर कुछ घंटोंमें वापस आ जाता, कभी दिनभर गायब रहता, कभी कई दिनों वह परेशान रहता। एक दिन परेशान होकर वह अपनी बंदूक लेकर पहाड़ी जंगलमें घूमने चला गया। वहाँ चलते-फिरते एक व्यक्तिने उससे वहाँ घूमनेका कारण पूछा, किंतु जवाबमें कुछ अंट-संट बातें सुनकर उसने जाकर पुलिसको सूचना दी कि अमुक व्यक्ति पागल मालूम होता है, बंदूकसहित घूमना खतरनाक हो सकता है। बस, पुलिसवाले फौरन पहुँचे और उसे पकड़-बाँध ले जाकर थानेमें बंद कर दिया। कुछ घंटोंमें पागलखाने भेज दिया, जहाँ उसे जबरदस्ती दवा पिलायी गयी, लात-मुक्के, ठोकरें दी गयीं, उसके दाँत-जबड़े टूट गये, लहूलुहान हो गया तब बेहोश दशामें कफन-सा लपेटकर एक खाटमें उसे सुला दिया गया। उसके दिनभर न लौटनेके कारण संध्या-समय उसकी स्त्री पूछताछ करने घरसे निकली। पुलिस थानेमें उसे पागलखाना जानेका निर्देश मिला। पागलखानेके अधिकारियोंने उसे पहले कुछ ठीक हाल न बताया, पश्चात् प्रवेशाधिकारमें आनाकानी की, बड़ी विनयके पश्चात् कफनमें लिपटा खाटमें पड़ा पति उसे बता दिया, विशेष बात करनेका अवसर न दिया, पति बड़ी कठिनाईसे अपना कुछ हाल बता सका और पागलखानेमें ही मर गया। उसके मरनेपर पत्नीने अपने नगरके पार्लियामेंट सदस्यका दरवाजा खटखटाया। पुलिस और पागलखानेके अधिकारियोंसे सदस्यने जब बातचीत कर पूरी जानकारी चाही तो वे घबराये और दूसरे दिन संध्याको एक बड़ी मोटरमें पुलिस, पागलखानेके डॉक्टर और वकील अचानक विधवा महिलाके घर आ धमके, उल्टी-सीधी बातोंसे उसे ही अपराधिनी कहकर डरा-धमकाकर एक राजीनामेपर उसके हस्ताक्षर करा लिये। सब मामला समाप्त हो गया। यह समाचार किसी अखबारमें नहीं छपा।

कुछ समय पूर्व हमारे संसारप्रिय नेता, भारतहृदय प्रधान मन्त्री श्रीनेहरूने एक औद्योगिक सभामें कहा था कि भारतमेंसे सब * अधिकारयुक्त स्वार्थी उद्योग मिट जाना चाहिये।

अब यह विचार करना चाहिये कि अधिकारयुक्त स्वार्थी उद्योगका स्वरूप क्या है, वह कहाँ है और कहाँ नहीं है। दुनियामें विशेषकर दो प्रकारके लोग हैं, मूर्ख और धूर्त। इन्हीं दोके सहयोगसे दुनियाके सब काम चलते हैं। मूर्खोंकी संख्या सबसे अधिक है। धूर्त अर्थात् बुद्धिमान् बहुत कम। जैसे दुनियामें शेर कम हैं और भक्ष्य प्राणी अधिक। प्रकृतिका यह भक्ष्य-भक्षकका क्रम मानवपर भी परम्परासे कायम है कि न्यून-संख्यक बुद्धि-बली मानवने बुद्धिमानीसे स्वजातीय मानवको अपने चंगुलमें रखकर ऐसी व्यवस्था की है कि पशुवत् पालकर, संचालनकर, उनसे श्रम-सेवा लेते हुए चूसकर स्वयं जीते हैं और उन्हें इस प्रकार जिन्दा रखते हैं कि वे न मरें और न मोटे हों। इसका नाम आजकल है—जियो और जीने दो। अहिंसकरूपी यह हिंसा सदासे कायम है और चाहे राज्य, व्यापार, समाज व्यवस्थाओंमें जो भी परिवर्तन आगे हो—यह कमजोरोंकी गुलामी बलवानों, धूर्तोंका शासन हमेशा कायम रहेगा। सम्यक् भाव एवं व्यवस्थाका नगाड़ा चाहे जितना जोरसे पीटा जाय, जबतक मूर्खोंकी संख्या अधिक होगी, धूर्त, बुद्धिमान् अल्पसंख्यक हमेशा उनपर अधिकारपूर्वक शासन करेंगे; क्योंकि अल्पसंख्यक स्वयं परिश्रम न कर बुद्धिजीवी हैं और बहुसंख्यक मूर्खोंकी भी गुजर अल्पसंख्यकके निर्देश बिना नहीं होती। एकके पास बुद्धि है, दूसरेके पास शरीर-श्रम है। कोई स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी कमाई नहीं खाता। अपनेसे निम्नश्रेणीके पशुओं तथा मानवरूपी पशुओंके परिश्रमकी कमाई खाता है। मनुष्यने आदिकालसे ऐसी व्यवस्था कायम की है कि अकेले किसीकी गुजर नहीं हो सकती। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और परम्परागत, मनुकी कर्म-व्यवस्थासे परस्पर संगठन बिना किसीका काम नहीं चलता। स्वयं अपने ही परिश्रमसे, किसी यन्त्र अथवा अन्य प्राणीके सहयोग बिना खेती करना, अन्न, साग, फल उत्पादन करना, कपड़े, मकान, लोहा-लकड़ी, मिट्टी आदिके काम अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके साधनोंका प्रत्येकको ज्ञान वा अभ्यास कुछ नहीं होता। विभिन्न कर्म, मानवोंके गुण, कर्म स्वभावतः विभाजित हैं। अपनी-अपनी कारीगरीमें मिट्टी, लकड़ी, लोहा, चूना, कपड़ा, सोनाके काममें सब होशियार हैं, दूसरोंको ठगते हैं तथा दूसरोंद्वारा ठगाये जाते हैं। बहुसंख्यक समाज होनेसे परस्पर सेवा, व्यापार-संगठन, शासनकी आवश्यकता होनेसे सब प्रकारके अनुशासनकी व्यवस्थाएँ

* "All vested interest must go. Go it must"—Sri Nehru.

अल्पसंख्यक बुद्धिमानोंने ही बनायीं और मूर्खोंने उसे मानी; क्योंकि बुद्धिमान् भी उसी नियमसे चलते हैं। यदि न चलें तो बहुसंख्यक लोग उन्हें पाखण्डी मानें।

परंतु कालान्तरसे जागृति होकर पाखण्डकी पोल खुल गयी। एकछत्र शासन, सामन्तशाही, साम्राज्य और पूँजीवाद क्रमशः मिटने लगे। परंतु यह भी हुआ नाममात्र, केवल इसका रूप बदल गया। विश्वविख्यात 'नोबेल पुरस्कार' को अस्वीकार कर देनेवाले, सम्यक् उत्पत्ति, विकास, वितरण और त्यागके आदर्श प्रचारक रूस-जैसे विशाल देशके प्रसिद्ध लेखक बोरिस पास्तरनाकने अपनी पुस्तकमें एक बड़े महत्त्वका वाक्य लिखकर मानवकी स्वार्थी और लाचार परम्पराका दिग्दर्शन कराया है—

'Men who are not free invariably idealige their bondage'—Boris Pasternak "Dr Zhivago".

अर्थात् जो लोग स्वतन्त्र नहीं होते, अथवा नहीं हैं, वे अपनी गुलामीको ही आदर्श बना लेते हैं।

इसका अर्थ यों समझा जाय कि 'Any form of Government, Socio-economic or Religio-political institution, whether Democratic, Republic-Socialist—is a system of slavery imposed on its own people by the people themselves to be administered by their own voted and chosen superior, wiser and abler few, for, on behalf of, and over themselves to perpetuate the necessary slavery for mutual survival in an orderly and organized manner. Hence a Government is a necessary institution of self-formulated and organized mutual bondage, though not slavery.'—V. Verma.

यह है अन्योन्याश्रित गुलामीकी परम्परा जहाँ कि मूर्खोंके बिना बुद्धिमानोंका और बुद्धिमानोंके बिना मूर्खोंका काम नहीं चलता, जैसे शरीरमें हृदय और मस्तिष्ककी नितान्त आवश्यकता है। एकके बिगड़ जानेसे दूसरा बिगड़ता है और सारे शरीरकी व्यवस्था बिगड़ जाती है। गवर्नमेंट या संस्था चाहे कोई भी किसी भी रूपमें हो, जबतक वह पशु-पक्षीकी भाँति स्वतन्त्र स्वच्छन्द न हो, चाहे वह प्रजातन्त्र, जनतन्त्र, समाजवादी कुछ भी हो, वह स्वयंके बहुमतसे चुनी हुई होकर अल्पसंख्यकोंद्वारा अपने ऊपर गुलामी लादने और कायम रखनेकी परम्परा है, जो व्यक्तिगत अन्धाधुन्ध न होकर बनाये हुए नियम और कानूनसे चलती है। सभ्य और वैज्ञानिक होकर मानवमें अबतक इतनी बुद्धि नहीं आयी और संगठन नहीं हुआ कि वह किसी कानून या गवर्नमेंटके बिना शान्तिसे जी सके।

दुनियामें मूर्ख निरा मूर्ख नहीं और बुद्धिमान् भी पूर्ण ज्ञानी नहीं है, सबमें कुछ-न-कुछ मूर्खता और कुछ-न-कुछ बुद्धि होती है—जैसे गाय, बैल, कुत्ता, घोड़ा, हाथी। ज्ञान-अज्ञानकी मात्रा सबमें अपने विकासके अनुसार न्यूनाधिक होती है। जिसमें जितना अधिक बुद्धिबल होता है, वह अपनेसे कम बुद्धिवालेको ठगता है, शासन करता है, उपयोग करता है। ससारके हरेक काममें, क्षेत्रमें यह साक्षात् देख लीजिये। इस वास्तविक तत्त्वकी शिक्षा लोगोंको नहीं दी जाती तथा समाजमें मूर्ख और धूर्तके परस्पर सहयोगसे जीवनोपार्जन होता है। यदि दुनियाके सभी लोग एक समान ज्ञानी हो जायँ तो कोई किसीको क्यों पूछे और कोई किसीकी क्यों सुने? रूसके लोगोंने जाग्रत् होकर समत्वका नाद दुनियामें फैलाया, परंतु वहाँ भी शासक-शासित तथा धूर्त-मूर्ख, अमीर-गरीबकी परम्परा नष्ट नहीं हुई। वहाँ भी बुद्धिबलके अनुसार ही सब श्रेणियोंमें विभक्त हैं तथा अल्पसंख्यक बहुसंख्यकका संचालन करते हैं।

आजकल रूसी समाजवादी व्यवस्थाका नगाड़ा सारी दुनियामें सुमधुर सुनायी दे रहा है। दूरके ढोल सुहावने! ढोलकी आवाज दूरसे अच्छी लगती है, परंतु पास सुननेसे वह कान फोड़ता है।

श्रीमाईकेल जिलास, युगोस्लावियामें विद्यार्थीजीवनसे ही कम्युनिस्ट विचारधारा स्वीकार कर योजनाओंमें संगठित होते-होते जनप्रिय नेता होकर वहाँके वाइस प्रेसिडेंट हो गये। कम्युनिस्ट व्यवस्थामें क्रमशः सभी सीढ़ियाँ चढ़कर उन्होंने इतना ऊँचा पद पाया, परंतु इस पदपर आकर आदर्श और व्यवस्थामें उन्होंने जमीन-आसमानका जो अन्तर, आडम्बर, पाखण्ड पाया, अल्पसंख्यकोंद्वारा बहुसंख्यकोंपर जो अत्याचार, अनाचार, मनमानी होते देखा, तो उनसे यह सब सहन नहीं हुआ, उन्होंने ऐसे गणतन्त्रकी अपेक्षा डेमोक्रेसीको ठीक समझा और देशमें डेमोक्रेटिक व्यवस्था बनानेकी आवाज

उठायी, जिसका फल यह हुआ कि मार्शल टिटो प्रधानने उन्हें तीन सालके लिये जेलकी दीवालोंके भीतर मेहमान बना दिया, जिससे उनकी आवाज बाहर न जा सके। सम्यक् व्यवस्था और जनतन्त्र-स्वतन्त्रताका यहाँ स्पष्ट दर्शन हो जाता है, जहाँ कि अपने स्पष्ट सत्य और यथार्थ विचार प्रकट करनेका अधिकार ऐसे उच्च अधिकारीको भी नहीं मिला।

जेल जाने और अपने ऊपर मुसीबत आनेका आभास श्रीमाइकेलको हो गया था, इससे उन्होंने पहले ही बड़ी तिकड़मसे अपनी पुस्तक 'नयी जातिकी पाण्डुलिपि'* हवाईजहाजद्वारा विदेश भेज दी थी, जो बादमें प्रकाशित हो गयी। इसमें उन्होंने बड़े सुन्दर और स्पष्ट ढंगसे कम्युनिस्ट विचारधारा और यथार्थ व्यवस्थाका विश्लेषण किया है।

अब अमेरिका चलिये। वहाँकी 'स्वतन्त्रता† घोषणा'के अनुसार सबको जिस प्रकारकी स्वतन्त्रता है, उसका स्वतन्त्रतापूर्वक पालन कर पाना ईमानदारीके साथ असम्भव हो जाता है। अपनी गलतीसे रोग होता है, बेमेल, विकृत विषाक्त भोजन-पानी तथा अनियमित जीवनचर्या एवं अतिशय इन्द्रिय-लोलुपतासे अर्थात् व्यक्तिगत अज्ञानजन्य कर्मोंसे शरीरके रस-रक्त तथा आन्तरिक व्यवस्था बिगड़कर रोग होता है। इसके साथ सामूहिक कारणोंसे भी रोग होता है, परंतु अपनी गलती और अज्ञानसे रोगी होकर स्वयं अपना इलाज दवाके बिना आत्मसुधारद्वारा करनेकी स्वतन्त्रता जनताको नहीं है। सरकारने डाक्टरी इलाजका ठेंगा जनतापर कानूनके सहारे व्यापककर जबरदस्ती पटक दिया है। यद्यपि ब्रिटेनमें यह कठोर बन्धनरूपमें नहीं है, कई सौ प्राकृतिक चिकित्सकलोग धंधा करते हैं, परंतु एडिनबर्गके प्रसिद्ध अनुभववृद्ध श्रीथामसनकी लिखित 'हृदय' रोगकी बिना औषध दुरुस्त करनेके साधन बतानेवाली‡ पुस्तकका अमेरिकामें आयात और प्रचार निषेध कर दिया गया है। इस पुस्तकको पढ़कर बहुत-से हृदयरोगियोंने आत्मचिकित्सा की और उन्होंने स्वयं लिखित तथा डाक्टरोंके प्रमाण दिये, किंतु अमेरिकन अधिकारीने उनपर कुछ भी विचार न कर, इस पुस्तकका नाम भी १२ शब्दोंमें वहाँके अखबारोंमें छपना निषिद्ध कर दिया है। ब्रिटेनमें इस पुस्तकके दस संस्करण हो चुके हैं, परंतु अपने दवाके धंधे और डाक्टरी विज्ञानपर चोट पड़ते देखकर ही अमेरिकन अधिकारीने यह कदम उठाया है।

इतना ही नहीं, पेकिंग विश्वविद्यालय (चीन) में 'वाल्ट विटमैन'§ पर अपना व्याख्यान देनेके लिये निमन्त्रित, अमेरिकन उपन्यासकार वाल्डो फ्रैंक (Waldo Frank)को चीन जानेके लिये पार-पत्र× देनेसे इन्कार कर दिया। यह तो नयी बात है, पर पुरानी बात भी सुनिये। एडिनबर्ग, स्काटलैंडसे अमेरिका जाकर श्रीअलेक्जेंडर ग्राहम बेल+ बसे थे। ये टेलीफोनके आविष्कारक थे, परंतु इन्हें अकस्मात् बोस्टन शहर छोड़कर भागना पड़ा। टेलीफोनके नये आविष्कारसे उनपर स्थानीय अधिकारियोंका इतना कोप बढ़ा कि उन्होंने बेलसाहबको पागलखानेमें डाल देनेका निश्चय किया था कि ताँबेके तारद्वारा मनुष्यकी आवाजको इन्होंने दूर भेजनेकी योजना प्रकट की थी। स्वार्थके द्वारा दिनदहाड़े सत्य और स्वतन्त्रताकी हत्या होती है और स्वतन्त्रताकी घोषणा तथा न्यायके कानून पुस्तकोंमें मौन रहते हैं। व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके विषयमें महापुरुषोंके निम्नलिखित वाक्योंमें देखिये—

"The right of the individual to elect freely the manner of his care in illness must be preserved."—President Eisenhower.

"The Constitution of the Republic should make special provisions for medical freedom. To restrict the art of healing to one class will constitute the bastille of medical science. All such laws are un-American and despotic."—Dr. Benjamin Rush—Signer of Declaration of Independence.

"The American people, in order to maintain and advance our way of life, must be free to think and write as they please and to read books of their own choosing." Ex-Attorney-General Herbert Brownell.

---

* Michael Dgilas—'The New class'

† American Independence Declaration.

‡ The Heart—Prevention and Cure of cardiac conditions—by James C. Thomson.

§ Walt Whitman—Poet of Democracy.

× Passport

\+ Alexander Graham Bell

"Medicine is far from having decreased human sufferings as much as it endeavours to make us believe...... The suppression of diphtheria, small-pox, typhoid fever etc. are paid for by the long sufferings and the lingering deaths caused by chronic affections and especially cancer, diabetes and heart disease. We should perhaps renounce this artificial form of health and exclusively pursue natural health."—Dr. Alexis Carrell in his book—'Man the Unknown'.

"The body has its own defence mechanisms......its healing powers at work in the body......powers which our therapeutics are very long distance behind."—Dr. Richard C. Cabbot—famous Medical Professor.

राजनीति हो या समाजनीति, व्यापार अथवा चिकित्सा क्षेत्रमें, क्या यह सब स्वार्थप्रेरित अधिकार चेष्टा (Vested interest) नहीं है ? श्रीनेहरूने जो इस औद्योगिक स्वार्थ-को निकाल फेंकनेकी बात कही है, वह कहाँ-कहाँसे और कैसे निकाल सकेंगे ? यदि इस स्वार्थाधिकार अथवा स्वार्थान्धकार-को दुनियाके सभी व्यावहारिक क्षेत्रोंसे समूल नष्ट कर दिया जाय तो व्यावहारिक संसारमें क्या शेष बचेगा और संसार कैसे चलेगा, इसकी जरा कल्पना करें और देखें कि भारतमें जन्म लेकर जीते हुए पूज्य गाँधीजीकी तपस्या और श्रीनेहरू आदिके त्याग-बलिदानके वरदानस्वरूप जो स्वतन्त्रता हमें मिली है, उसके आदर्शको लेकर भारतने इन बारह वर्षोंमें कौन-सी उन्नति की है और हम किधर जा रहे हैं। आजाद होकर विदेशोंसे दोस्ती कर दुनियाकी वैज्ञानिक उन्नतिमें अपना कदम साथ रखनेके लिये कर्ज लेकर, रोग बढ़ाकर, औद्योगिक विकास और सांस्कृतिक कार्यक्रमका स्वाँग बनाकर आज हमारी क्या दशा है, हम क्या खाते-पीते हैं, कैसे गुजर करते हैं और पचीस वर्ष पहलेकी अपेक्षा व्यक्तिगत अथवा सामाजिक या राष्ट्रिय स्थिति क्या है।

क्या यह सब सभ्यता, शासन और विज्ञानका विनाशकारी पाखण्ड नहीं है ?

पारस ! नेक पसीजो

घिर आयी है अमा, पंथका शूल बन रहा कण-कण।
त्रिविध ताप, त्रिगुणात्मक माया-पाश छल रहा क्षण-क्षण ॥
महाविषय जग-जाल-ग्रस्त मन जब-जब आकुल होता।
महाशून्यमें तब-तब तेरी स्मृतिका फेरा होता ॥
जन्म-जन्मके आवर्त्तोंमें तेरा नाम सँजोये।
भटक रहा यह जीव अभागा, स्मृति-पलक भिगोये ॥
मोह-निशा छायी; पर आत्माकी पीड़ा जाग्रत है।
विस्मृत तुमको विरद किंतु पापी मन पाप-निरत है ॥
पारस ! नेक पसीजो, लोहा पल-पल पंथ निहारे।
प्राणोंके पीयूष ! पपीहा पावस बीच पुकारे ॥

—श्रीवचनेश त्रिपाठी

काश्मीर और कालिदास

(लेखक—डा० श्रीसीतारामजी सहगल, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

कल्हणने राजतरंगिणीमें कहा है कि तीनों भुवनोंमें कैलास श्रेष्ठ है, कैलासमें सुन्दरतम हिमालय है और हिमालयमें प्रकृतिका अमरस्थान काश्मीर है। सम्भवतः इससे बढ़िया सुभाषित किसीने नहीं लिखा। इसका दर्शन करके हृदयकी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, सब संदेह दूर हो जाते हैं और सब पाप स्वयमेव क्षीण हो जाते हैं। दुनियाके सभी भोग यहाँ सुलभ हैं और दुनियासे यदि वैराग्य प्राप्त करना हो तो तब भी काश्मीर निर्वाणका परमपद है।

प्राचीन कालमें राजा लोग वनविहारके लिये इस प्रदेशमें आते थे और महीनोंतक यहाँ रहकर मानसिक शान्ति प्राप्त करते और फिर अपनी राजधानीको लौट जाते थे। यहाँ विश्वविश्रुत वसिष्ठ, कश्यप जैसे विद्वान् रहते थे, जिनके द्वारा कुल-परम्परासे विद्या प्राप्त करके मानवके 'स्वान्तःसुख'के लिये आश्रम खोले हुए थे। आजकी भाषामें यह स्थान यूनिवर्सिटीका महान् केन्द्र होता था। दूर-दूरसे ज्ञानके प्यासे यहाँ आकर अपनी प्यास बुझाते थे। संस्कृतसाहित्यमें इसका प्राचीनतम नाम शारदापीठ है, जो आजकल विश्वविद्यालयका दूसरा पर्यायवाचक शब्द है। काश्मीर शब्द भी संस्कृतके 'कश्यप+आश्रम'का बिगड़ा हुआ रूप है।

महाकवि कालिदासकी यद्यपि उज्जैनी तथा मालवप्रियता सुप्रसिद्ध है तो भी काश्मीरसे उसका कम प्रेम न था। उसके साहित्य पढ़नेसे यह मालूम होता है कि मानो वह काश्मीरी ही था। उज्जैनीके सुप्रसिद्ध फूल शिरीषका वर्णन कालिदासने अपने ग्रन्थोंमें किया है, उसी तरह देवदारुका वर्णन भी है। यदि इन दोनों वर्णनोंकी तुलना की जाय तो ऐसा मालूम पड़ता है कि उसे देवदारु अधिक प्रिय था। रघुवंशके दूसरे सर्गमें दिलीप-सिंहका संवाद बड़ा ही रोचक है। काश्मीरकी झलक इसमें मिलती है। 'शेर राजा दिलीपसे कहता है कि मैं शंकरका कृपापात्र हूँ और मुझे इस सामने खड़े हुए व्यूढोरस्क तथा प्रांशु देवदारु वृक्षकी रक्षाके लिये शंकरने नियुक्त किया है। पार्वतीने स्वयं इसे अपने दूधसे सींचा है और इसके साथ स्कन्दकी तरह प्रेम करती हैं। एक बार किसी मतवाले हाथीने अपनी पीठसे इसकी छालको छील दिया! तब पार्वती ऐसी दुखी हुई थीं जैसे संग्राममें स्कन्द शत्रुओंसे घायल हुआ हो।' इस हृदयग्राही उल्लेखसे मालूम पड़ता है कि हिमालयकी चोटियोंके शृङ्गार देवदारुसे उसका कितना स्नेह था। यही नहीं; कुमारसम्भवमें भी इस दिव्यदारुकी विभूतिका वर्णन किया गया है।

> भागीरथीनिर्झरसीकराणां
> वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः।
> यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातै-
> रासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः॥

गङ्गाजीके झरनोंके फुहारोंसे लदा हुआ बार-बार देवदारु वृक्षको कँपानेवाला और किरातोंकी कमरमें लगे हुए मयूरके पंखोंको फहरानेवाला यहाँका शीतल, मन्द और सुगन्धित पवन उन किरातोंकी थकानको मिटाता है, जो हिरणोंकी खोजमें हिमालयपर घूमते हैं।

काश्मीरका आजकलका वनपथ वही है, जो पुराने जमानेमें वसिष्ठाश्रम कहा जाता था। महात्मा लोग आज भी इसी नामसे पुकारते हैं। रघुवंशके आरम्भके सर्गोंमें इसी प्रदेशका मनोहारी वर्णन किया गया है। देवदारुनिकुंज, गौरी गुरुगह्वर तथा गङ्गाप्रपात इसी प्रदेशमें फैले हुए स्थानोंके उल्लेख हैं।

शाकुन्तलका सातवाँ अङ्क तो मानो काश्मीरका ही वर्णन है। दुष्यन्तके मुँहसे कविने कहा है कि यह स्वर्गसे भी अधिक निर्वृत्तिका स्थान है। मुझे ऐसा लगता है कि मैं अमृतके सरोवरमें स्नान कर रहा हूँ। हेमकूटका संकेत काश्मीरके 'हर मुकुट' पर्वतसे है, जिससे कनकवाहिनी नदी निकलती है। ब्रह्मसर, अप्सरातीर्थ, शचीतीर्थ, सोमतीर्थ, मालिनी शक्रावतारादि छोटे-छोटे स्थान उत्तर काश्मीरमें हैं।

कालिदासके ग्रन्थोंमें काश्मीर प्रदेशके दृश्योंका असाधारण वर्णन ही नहीं है, वह तो कविके हृदयकी पुकार है। हिमालयकी शीतप्रधानताकी सुषमाका वर्णन करते हुए कविने लिखा है—

> अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य
> हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
> एको हि दोषो गुणसंनिपाते
> निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥
> (कुमार० १।३)

"Medicine is far from having decreased human sufferings as much as it endeavours to make us believe...... The suppression of diphtheria, small-pox, typhoid fever etc. are paid for by the long sufferings and the lingering deaths caused by chronic affections and especially cancer, diabetes and heart disease. We should perhaps renounce this artificial form of health and exclusively pursue natural health."—Dr. Alexis Carrell in his book—'Man the Unknown'.

"The body has its own defence mechanisms......its healing powers at work in the body......powers which our therapeutics are very long distance behind."—Dr. Richard C. Cabbot—famous Medical Professor.

राजनीति हो या समाजनीति, व्यापार अथवा चिकित्सा क्षेत्रमें, क्या यह सब स्वार्थप्रेरित अधिकार चेष्टा (Vested interest) नहीं है ? श्रीनेहरूने जो इस औद्योगिक स्वार्थको निकाल फेंकनेकी बात कही है, वह कहाँ-कहाँसे और कैसे निकाल सकेंगे ? यदि इस स्वार्थाधिकार अथवा स्वार्थान्धकारको दुनियाके सभी व्यावहारिक क्षेत्रोंसे समूल नष्ट कर दिया जाय तो व्यावहारिक संसारमें क्या शेष बचेगा और संसार कैसे चलेगा, इसकी जरा कल्पना करें और देखें कि भारतमें जन्म लेकर जीते हुए पूज्य गाँधीजीकी तपस्या और श्रीनेहरू आदिके त्याग-बलिदानके वरदानस्वरूप जो स्वतन्त्रता हमें मिली है, उसके आदर्शको लेकर भारतने इन बारह वर्षोंमें कौन-सी उन्नति की है और हम किधर जा रहे हैं। आजाद होकर विदेशोंसे दोस्ती कर दुनियाकी वैज्ञानिक उन्नतिमें अपना कदम साथ रखनेके लिये कर्ज लेकर, रोग बढ़ाकर, औद्योगिक विकास और सांस्कृतिक कार्यक्रमका स्वाँग बनाकर आज हमारी क्या दशा है, हम क्या खाते-पीते हैं, कैसे गुजर करते हैं और पचीस वर्ष पहलेकी अपेक्षा व्यक्तिगत अथवा सामाजिक या राष्ट्रिय स्थिति क्या है।

क्या यह सब सभ्यता, शासन और विज्ञानका विनाशकारी पाखण्ड नहीं है ?

पारस ! नेक पसीजो

घिर आयी है अमा, पंथका शूल बन रहा कण-कण।
त्रिविध ताप, त्रिगुणात्मक माया-पाश छल रहा क्षण-क्षण॥
महाविषय जग-जाल-ग्रस्त मन जब-जब आकुल होता।
महाशून्यमें तब-तब तेरी स्मृतिका फेरा होता॥
जन्म-जन्मके आवर्त्तोंमें तेरा नाम सँजोये।
भटक रहा यह जीव अभागा, स्मृति-पलक भिगोये॥
मोह-निशा छायी; पर आत्माकी पीड़ा जाग्रत है।
विस्मृत तुमको विरद किंतु पापी मन पाप-निरत है॥
पारस ! नेक पसीजो, लोहा पल-पल पंथ निहारे।
प्राणोंके पीयूष ! पपीहा पावस बीच पुकारे॥

—श्रीवचनेश त्रिपाठी

काश्मीर और कालिदास

(लेखक—डा० श्रीसीतारामजी सहगल, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

कल्हणने राजतरंगिणीमें कहा है कि तीनों भुवनोंमें कैलास श्रेष्ठ है, कैलासमें सुन्दरतम हिमालय है और हिमालयमें प्रकृतिका अमरस्थान काश्मीर है। सम्भवतः इससे बढ़िया सुभाषित किसीने नहीं लिखा। इसका दर्शन करके हृदयकी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, सब संदेह दूर हो जाते हैं और सब पाप स्वयमेव क्षीण हो जाते हैं। दुनियाके सभी भोग यहाँ सुलभ हैं और दुनियासे यदि वैराग्य प्राप्त करना हो तो तब भी काश्मीर निर्वाणका परमपद है।

प्राचीन कालमें राजा लोग वनविहारके लिये इस प्रदेशमें आते थे और महीनोंतक यहाँ रहकर मानसिक शान्ति प्राप्त करते और फिर अपनी राजधानीको लौट जाते थे। यहाँ विश्वविश्रुत वसिष्ठ, कश्यप जैसे विद्वान् रहते थे, जिनके द्वारा कुल-परम्परासे विद्या प्राप्त करके मानवके 'स्वान्तःसुख'के लिये आश्रम खोले हुए थे। आजकी भाषामें यह स्थान यूनिवर्सिटीका महान् केन्द्र होता था। दूर-दूरसे ज्ञानके प्यासे यहाँ आकर अपनी प्यास बुझाते थे। संस्कृतसाहित्यमें इसका प्राचीनतम नाम शारदापीठ है, जो आजकल विश्व-विद्यालयका दूसरा पर्यायवाचक शब्द है। काश्मीर शब्द भी संस्कृतके 'कश्यप+आश्रम'का बिगड़ा हुआ रूप है।

महाकवि कालिदासकी यद्यपि उज्जैनी तथा मालवप्रियता सुप्रसिद्ध है तो भी काश्मीरसे उसका कम प्रेम न था। उसके साहित्य पढ़नेसे यह मालूम होता है कि मानो वह काश्मीरी ही था। उज्जैनीके सुप्रसिद्ध फूल शिरीषका वर्णन कालिदासने अपने ग्रन्थोंमें किया है, उसी तरह देवदारुका वर्णन भी है। यदि इन दोनों वर्णनोंकी तुलना की जाय तो ऐसा मालूम पड़ता है कि उसे देवदारु अधिक प्रिय था। रघुवंशके दूसरे सर्गमें दिलीप-सिंहका संवाद बड़ा ही रोचक है। काश्मीरकी झलक इसमें मिलती है। 'शेर राजा दिलीपसे कहता है कि मैं शंकरका कृपापात्र हूँ और मुझे इस सामने खड़े हुए व्यूढोरस्क तथा प्रांशु देवदारु वृक्षकी रक्षाके लिये शंकरने नियुक्त किया है। पार्वतीने स्वयं इसे अपने दूधसे सींचा है और इसके साथ स्कन्दकी तरह प्रेम करती हैं। एक बार किसी मतवाले हाथीने अपनी पीठसे इसकी छालको छील दिया! तब पार्वती ऐसी दुखी हुई थीं जैसे संग्राममें स्कन्द शत्रुओंसे घायल हुआ हो।' इस हृदयग्राही उल्लेखसे मालूम पड़ता है कि हिमालयकी चोटियोंके शृङ्गार देवदारुसे उसका कितना स्नेह था। यही नहीं, कुमारसम्भवमें भी इस दिव्यदारुकी विभूतिका वर्णन किया गया है।

> भागीरथीनिर्झरसीकराणां
> वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः।
> यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातै-
> रासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः॥

गङ्गाजीके झरनोंके फुहारोंसे लदा हुआ बार-बार देवदारु वृक्षको कँपानेवाला और किरातोंकी कमरमें लगे हुए मयूरके पंखोंको फहरानेवाला यहाँका शीतल, मन्द और सुगन्धित पवन उन किरातोंकी थकानको मिटाता है, जो हिरणोंकी खोजमें हिमालयपर घूमते हैं।

काश्मीरका आजकलका वनपथ वही है, जो पुराने जमानेमें वसिष्ठाश्रम कहा जाता था। महात्मा लोग आज भी इसी नामसे पुकारते हैं। रघुवंशके आरम्भके सर्गोंमें इसी प्रदेशका मनोहारी वर्णन किया गया है। देवदारुनिकुंज, गौरी गुरुगह्वर तथा गङ्गाप्रपात इसी प्रदेशमें फैले हुए स्थानोंके उल्लेख हैं।

शाकुन्तलका सातवाँ अङ्क तो मानो काश्मीरका ही वर्णन है। दुष्यन्तके मुँहसे कविने कहा है कि यह स्वर्गसे भी अधिक निर्वृत्तिका स्थान है। मुझे ऐसा लगता है कि मैं अमृतके सरोवरमें स्नान कर रहा हूँ। हेमकूटका संकेत काश्मीरके 'हर मुकुट' पर्वतसे है, जिससे कनकवाहिनी नदी निकलती है। ब्रह्मसर, अप्सरातीर्थ, शचीतीर्थ, सोमतीर्थ, मालिनी शक्राव-तारादि छोटे-छोटे स्थान उत्तर काश्मीरमें हैं।

कालिदासके ग्रन्थोंमें काश्मीर प्रदेशके दृश्योंका असाधारण वर्णन ही नहीं है, वह तो कविके हृदयकी पुकार है। हिमालयकी शीतप्रधानताकी सुषमाका वर्णन करते हुए कविने लिखा है—

> अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य
> हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
> एको हि दोषो गुणसंनिपाते
> निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥
> (कुमार० १। ३)

'इस अनगिनत रत्न उत्पन्न करनेवाले हिमालयकी शोभा हिमके कारण कम नहीं होती; क्योंकि जहाँ बहुत-से गुण हों, वहाँ एकाध अवगुण भी आ जाय तो उसका वैसे ही पता नहीं चलता जैसे चन्द्रमाकी किरणोंमें उसका कलंक छिप जाता है।'

कुमुदनाग तथा निकुम्भादिका उल्लेख काश्मीरी गाथाओंमें मिलता है। अज-इन्दुमती-विवाहमें आचार धूम-ग्रहण, लाजा-होम, स्वयं न डालकर इन्दुमतीका धात्रीके हाथोंसे अजके गलेमें माला डलवानेकी रीति काश्मीरी विवाहसे मेल खाती है। रघुवंशके वल्लभ नामक टीकाकारने काश्मीरकी कई प्रथाओंकी ओर संकेत किया है। यही नहीं, काश्मीरमें मछुए प्राचीन कालसे घृणाकी दृष्टिसे देखे जाते हैं। इसीका रोचक वर्णन शाकुन्तलमें किया गया है। कालिदासने केसरका वर्णन करते हुए कहा है कि शिशिर और हेमन्तमें स्त्रियाँ स्तनोंपर इसका लेप करती हैं। यह प्रथा काश्मीरमें सम्भव तथा प्रसिद्ध है।

काश्मीर आजसे नहीं, हजारों वर्षोंसे भारतको अपने केसरके अतिरिक्त अमृतसम फलोंसे भी सींचता आया है। शाकुन्तलमें इन फलोंसे जन-जीवनकी तुलना कई बार दी गयी है। उपमाकी सामग्री वही होती है जो सुलभ हो, अनुभवगम्य हो तथा जनरोचक हो। महाकविने इसका कई बार उल्लेख किया है। भगवान् मारीचके आश्रममें जब दुष्यन्त पहुँचता है, तब कहता है—

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं
घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रम-
स्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः॥
(शाकुन्तल ७। ३०)

भगवन्! आपकी कृपा तो सचमुच अनोखी है, जिसमें दर्शनसे पहले ही मनोवाञ्छित फल मिल गया; क्योंकि कार्य और कारणका तो यही क्रम है कि पहले फूल लगता है और तब फल। पहले बादल उठता है, तब बरसात; परंतु आपके यहाँ तो सारे सुख आपकी कृपाके आगे-आगे चलते जा रहे हैं।

जिन्होंने कुछ समय हिमालयके किसी प्रदेशमें गुजारा है, वे ही इस उपमाका रसपान कर सकते हैं। काश्मीरके किसी सुन्दर घरमें बैठकर आसपास फलोंसे लदे हुए पेड़ों तथा मेघका दर्शन करके मनुष्य स्वयमेव एक अपूर्व आनन्दका अनुभव करता है। उसकी हृदयतन्त्री झंकृत हो उठती है और वह कालिदासकी मधुद्रवसे लिप्त गीर्वाणीका स्वाद प्राप्त करता है। मधुर तथा सान्द्र मंजरीकी तरह उसकी सूक्तियोंमें प्रीति बढ़ती है और वह जैन कवि रविकीर्तिके साथ गा उठता है—

पुष्पेषु जातिर्नगरीषु काञ्ची
नदीषु गङ्गा कविकालिदासः॥

अर्थात् पुष्पोंमें जो स्थान जाति-पुष्पका है, नगरीमें काञ्चीका, नदियोंमें गङ्गाका; वही कवियोंमें कालिदासका स्थान है।

भगवान्‌का प्रत्येक विधान मङ्गलमय है

किससे कैसे कब हो सकता है मेरा सचमुच कल्यान॥
नहीं जानता उसे अज्ञ मैं, पूर्ण जानते हैं भगवान।
सर्वशक्तियुत, सबके ज्ञाता, सब लोकोंके ईश महान॥
सहज सुहृद मेरे वे जो कुछ करते मेरे लिये विधान।
निश्चय ही वह मंगलमय सब कल्याणोंका आधान॥
हिम-आतप, वर्षा-सूखा कब किससे कैसा लाभ अमान।
रोग-निरोग, मरण-जीवनके सब रहस्यका उनको ज्ञान॥
भरा उसीमें है हित सबका परम चरम जग-अभ्युत्थान।
निर्भय मैं रहता हूँ इससे नित प्रभु-अनुकम्पाका कर ध्यान॥

मानस-सिद्ध-मन्त्र

(गताङ्कमें प्रकाशित लेखका स्पष्टीकरण)

गताङ्कमें 'मानस-सिद्ध-मन्त्र' शीर्षक लेख छपा है, उसके सम्बन्धमें कई सज्जनोंने पत्र लिखकर कई शङ्काएँ की हैं, उनके उत्तर निम्नलिखित हैं—

(१) पूर्वप्रकाशित लेखसे लेखकके प्रारम्भिक प्रस्तावनाके शब्दोंको (जिनमें मानस-मन्त्र या उनकी विधिकी कोई भी बात नहीं कही गयी थी) छोड़कर इस लेखमें और कुछ भी घटाया नहीं गया है। इसी प्रकार विधिको स्पष्ट करनेके सिवा और कुछ भी बढ़ाया नहीं गया है। असल बात जितनी उस मूल लेखमें थी, उतनी ही ज्यों-की-त्यों इस लेखमें भी है।

(२) अष्टाङ्ग-हवनकी सामग्रीमें पहले भी बारह चीजें ही लिखी गयी थीं, अब भी वही बारह ही लिखी गयी हैं। ये 'बारहों चीजें' मिलकर एक सेर सामग्री होनी चाहिये। 'कल्याण'में 'आठों चीजें' भूलसे छप गया है, वहाँ 'बारहों चीजें' पढ़ना चाहिये। पञ्चमेवामें मिश्री, छोहारा, चिरौंजी और नारियलकी गिरीका भी उपयोग कर सकते हैं।

(३) 'रक्षारेखा' मन्त्रको सिद्ध करनेके लिये अलग हवन करना है और जप करनेवाले मन्त्र (चौपाई, दोहे या सोरठे) के लिये अलग। इस प्रकार दोनोंके लिये अलग-अलग हवन करना चाहिये। एक बार हवनके द्वारा मन्त्र सिद्ध करनेके बाद फिर न तो रक्षा-रेखाके मन्त्रको, न उस जपवाले मन्त्रको ही दुबारा हवन करके सिद्ध करना है। एक बार कर लेनेके बाद वह सदाके लिये हो गया। दुबारा कभी उसी मन्त्रका जप करना हो तो कर सकते हैं, उस समय 'रक्षारेखा' मन्त्रका उच्चारण करके अपने चारों ओर केवल रेखा खींच लेनी चाहिये। पहले सिद्ध न किये हुए किसी दूसरे जपमन्त्रका जप करना हो तो उसे सिद्ध करनेके लिये अवश्य हवन करना होगा।

(४) मन्त्रका उच्चारण मन-ही-मन या बोलकर भी कर सकते हैं। पर होना चाहिये स्पष्ट और शुद्ध।

(५) हवन और जप स्वयं ही करना चाहिये। बीमारी आदिके कारण स्वयं न कर सकें तो घरके किन्हीं दूसरे सदस्यके द्वारा भी कराया जा सकता है।

(६) नीचे लिखी अर्धालियाँ लङ्काकाण्डकी हैं—

(१) हनूमान अंगद रन गाजे।
हाँक सुनत रजनीचर भाजे॥

(२) कर सारंग साजि कटि भाथा।
अरि दल दलन चले रघुनाथा॥

(३) सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा।
काल सर्प जनु चले सपच्छा॥

'रक्षारेखा' वाली अर्धाली भी लङ्काकाण्डकी है, पर वह किसी दिन भी हवन करके सिद्ध की जा सकती है।

(७) दिनभर व्रत रखनेकी आवश्यकता नहीं है। शुद्ध धुले कपड़े होने चाहिये। कमरेमें अंदर या ऊपरकी मंजिलोंपर भी हवन-जप कर सकते हैं। जप आवश्यकता होनेपर विश्वासपूर्वक करना चाहिये, मनमें शङ्का-संदेह रखकर या केवल परीक्षा करनेके लिये नहीं करना चाहिये।

(८) मन्त्रको पहले हवनके द्वारा सिद्ध करनेके बाद ही जप करना चाहिये। पहले भी ऐसा ही लिखा गया था।

(९) परिवारके सदस्य मिलकर हवन न करें। जिनको जप करना हो वही करें। 'स्वाहा' भी वही बोलें। अशक्त अवस्थामें ही ब्राह्मणके द्वारा कराया जा सकता है। नहीं तो, स्वयं ही हवन-जप करना चाहिये।

(१०) मानस-सिद्ध-मन्त्रकी विधिसे दुर्गासप्तशती आदिके मन्त्रोंको सिद्ध नहीं किया जा सकता। उनकी विधि उनके जानकार महानुभावोंसे जाननी चाहिये।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

पतिव्रता देवीका बुद्धिमत्तापूर्ण आदर्श साहस और त्याग

इन त्यागमयी बुद्धिमती सती वीराङ्गनाका नाम था सुश्रीशान्तिदेवी। इनके पिता लाला श्रीरेवतीप्रसादजी अग्रवाल, कस्बा खानपुर, जिला बुलन्दशहरके एक सम्मानित व्यवसायी हैं। आपके भाई लखनऊमें व्यवसाय करते हैं। आपका विवाह बुलन्दशहर जिलेके औरंगाबाद स्थानके लाला श्रीबाबूरामजीके सुपुत्र श्रीजगदीशप्रसादजी एम्० ए०, एल्० टी० महोदयके साथ हुआ था।

श्रीजगदीशप्रसादजी कस्बा खानपुरके माध्यमिक विद्यालयमें प्रधानाचार्यके पदपर कार्य करते थे। किसी स्वार्थभरे कारणसे कुछ लोग इनसे विरोध करने लगे। एक बार श्रीजगदीशप्रसाद सपत्नीक बैलगाड़ीद्वारा अपने निवासस्थान औरंगाबादसे खानपुरको जा रहे थे। मार्गमें कुछ लोगोंने गाड़ी रोककर प्रधानाचार्यजीपर लाठियोंसे प्रहार करना प्रारम्भ कर दिया। श्रीमती शान्तिदेवी अपने पतिके ऊपर लेट गयीं, उन लोगोंने कहा—'बहनजी! आप अलग हो जाइये, हमारा वैर तो इन प्रिंसिपल साहबसे है।' इसपर श्रीमती शान्तिदेवीने उनको फटकारते हुए कहा—'नराधमो! लज्जा नहीं आती, मुझको बहन भी कहते हो और उस बहनके ही जीवनसर्वस्व एवं इष्टदेवपर प्रहार करनेको तुले हो? जबतक मुझे मार न डालोगे तुम इनके शरीरको छू भी नहीं सकते।' उनके इस उत्तरने उनको निरुत्तर कर दिया और वे तुरंत वहाँसे चले गये। इस प्रकार वीराङ्गनाने पतिके प्राणोंकी रक्षा की।

गत दो फरवरी सन् १९५९ को एक बड़ी अद्भुत घटना हुई, जिसने श्रीमती शान्तिदेवीको चिरस्मरणीय बना दिया। उस घटनासे यह पूर्णरूपसे प्रकट हो गया कि ये देवी कितनी प्रत्युत्पन्न-मति, त्यागमयी, साहसमयी, पतिव्रता एवं ईश्वरनिष्ठ थीं। रात्रिके समय लगभग पचीस-तीस शस्त्रधारी व्यक्तियोंने प्रधानाचार्य महोदयके निवासस्थानपर छापा मारा। प्रधानाचार्यजी खानपुरके माध्यमिक विद्यालयमें ही ऊपर रहते थे। विद्यालयमें उस समय दो-तीन चपरासी तथा तीन अध्यापक थे। गिरोहके व्यक्तियोंने आते ही चपरासी तथा अध्यापकोंको डरा-धमकाकर आतंकित कर दिया कि जो जहाँ है वहीं पड़ा रहे, अन्यथा प्राणोंसे हाथ धोने पड़ेंगे। इसके पश्चात् वे लोग सीढ़ियोंके द्वारा ऊपर गये और प्रधानाचार्य महोदयके कमरेके किंवाड़ खटखटाने लगे। पूछनेपर बताया कि 'हम आपको मारने आये हैं।'

प्रधानाचार्य महोदयने कहा—यह तो कायरपन है कि आप इतने लोग मिलकर एक निहत्थे व्यक्तिको मारने आये हैं। मैंने तो ऐसा कोई बुरा काम भी नहीं किया है। अच्छा, मैं किवाड़ खोलता हूँ और यह सीना आपके सम्मुख है। आप गोली मार सकते हैं।

उनकी पत्नी शान्तिदेवीने उनको कुछ रुकनेके लिये कहा और जो भी नये-पुराने कपड़े मिले, उनको तुरंत मिट्टीके तेलमें भिगो लिया। अब किवाड़ खोलनेको कहा। किवाड़का खुलना था कि दो व्यक्तियोंने एक ही साथ दो फायर प्रधानाचार्य महोदयपर किये। भगवान्का विधान, दोनों ही गोलियाँ उनके बगलसे निकल गयीं। अब एक फायर पिस्तौलद्वारा करनेका प्रयत्न किया गया, परंतु पिस्तौल चली नहीं। प्रधानाचार्य महोदय अचेत होकर गिर पड़े। उनकी बुद्धिमती साहसमूर्ति पत्नीने तेलसे भीगे कपड़े जला-जलाकर इस तेजीसे डाकुओंपर फेंकने प्रारम्भ किये कि उनसे भागते ही बना। इस बीचमें प्रधानाचार्यको चेत हो गया था। शान्तिदेवीने अपने पतिको पीछे हटा दिया और दृढ़तापूर्वक उनको आगे बढ़ने तथा बोलनेसे रोक दिया। प्रधानाचार्य महोदयका कथन है कि 'ऐसा अपूर्व तेज मैंने अपनी पत्नीमें इससे पहले कभी नहीं देखा था और इस समय मैं उनका

आदेश माननेको बाध्य हो गया । वह भागते हुए डाकुओंपर और भी द्रुतगतिसे जलते कपड़े फेंकने लगीं । डाकू बिल्कुल घबरा गये और बोले कि 'यह स्त्री साधारण नहीं है—साक्षात् दुर्गा है । यह तो हमलोगोंको भस्म ही कर देगी ।' वे लोग वहाँसे भग गये और जबतक गाँवके चार-पाँच सौ मनुष्य आयें, एक भी डाकू वहाँपर नहीं था । अर्द्धरात्रिके समय सन्नाटेमें नगरसे बहुत दूर तीस-पैंतीस सशस्त्र निर्मम डाकुओंका केवल अपनी सूझ-बूझके तथा साहसके बलपर भगवान्के सहारे एक निहत्थी अबला-द्वारा सामना किया जाना तथा उन्हें वहाँसे भागनेपर विवश कर देना साधारण बात नहीं है । यह उस देवीके आदर्श पति-प्रेम, सूझ और साहसका परिचायक है । वह सच्ची सती थी और इसी कारण उसमें वह तेज प्रकट हुआ ।

परंतु यह त्याग सहसा लोकदृष्टिमें हो गया दुःखान्त । यद्यपि उस देवीके लिये तो यह गौरवकी चीज हुई । उसका समर्पण-यज्ञ पूर्ण हो गया । बात यह हुई कि डाकुओंपर कपड़े फेंकते समय तेलकी छींटें उनके ऊपर भी पड़ गये थे और वे जब लौट रही थीं, उनकी साड़ीमें आग लग गयी । आग जोर पकड़ गयी । उनके स्वामी तथा दशवर्षीय पुत्रने आग बुझानेका बहुत प्रयत्न किया, उन लोगोंके हाथ जल भी गये और किसी तरह आग बुझी; परंतु उस समयतक वे बुरी तरह झुलस गयी थीं । मोटरद्वारा उन्हें बुलन्दशहर अस्पतालमें पहुँचाया गया । इतनी जली होनेपर भी उन्होंने किसीका सहारा लेना पसंद नहीं किया और स्वयं मोटरपर जा बैठीं । उनका शरीर इतना जल गया था कि कहींपर इन्जेक्शन तक नहीं लगाया जा सकता था । बड़ी तत्परतासे उपचार किया गया, परंतु उस सतीको इस नश्वर संसारमें रोका नहीं जा सका । जलनेके पचास घंटे पश्चात् वे इस नश्वर शरीरका त्याग करके दिव्यलोकको चली गयीं ।

अन्त समयतक उनकी पतिभक्ति और ईश्वर-निष्ठा उनमें दीप्तिमान् रही । मृत्युशय्यासे भी वे अपने पतिकी ही ओर देखती रहीं तथा उन्हींको अपने पास उन्होंने बैठने दिया । मृत्युके नौ घंटे पूर्वसे रामायणका मौखिक पाठ प्रारम्भ किया जो अन्त समयतक चलता रहा । प्रत्येक दोहेके अन्तर वे 'सियावर रामचन्द्रकी जय शरणम् । सियावर रामचन्द्र पतिपद शरणम्' का घोष करती थीं । इसी अवस्थामें ब्राह्ममुहूर्तमें प्रातःकाल पाँच बजे उनकी अमर आत्माने इस नश्वर शरीरको त्याग दिया । बहुत सम्मानके साथ उनकी अरथी निकाली गयी ।' जिसमें हजारों व्यक्तियोंने भाग लिया । नगरके अनेक सम्मानित व्यक्तियोंने मृतात्माको श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित कीं । ऐसी देवियाँ ही भारतकी परम गौरवमयी सांस्कृतिक परम सम्पत्ति हैं ।

—रघुवरदयाल गोयल

(२)

हककी रोटी

सात-आठ वर्ष पहलेकी बात है, उस समय देशमें कपड़ेका राशनिंग था और कार्डसे कपड़ा मिल सकता था । जेतपुरमें ऐसी एक दूकानपर एक भाई कपड़ा बेचा करते थे । खेतीकी मौसम अभी समाप्त ही हुई थी । मूँगफलीके दाम भी चढ़े हुए थे, अतः किसानोंको अच्छी रकम हाथ लगती थी । इस प्रकार मूँगफली बेचकर उसके रुपये लिये समीपवर्ती सरधारपुर गाँवके एक किसान भाई कुछ कार्ड लेकर कपड़ा खरीदने जेतपुर आये थे । कपड़ेवालेकी दूकानपर कुछ भीड़ थी । इसलिये किसान भाईने जेबसे कार्ड निकालकर दूकानदारको दिये और कहा कि 'मैं थोड़ी देरमें आता हूँ ।'

दूकानदार भाईने उन कार्डोंको ज्यों-के-त्यों रख दिया । आये हुए कार्डोंका कपड़ा दे चुकनेके बाद दूकानदारने इन कार्डोंको हाथमें उठाया । कार्ड खोलकर देखनेपर अंदर सौ-सौ रुपयेके चौदह नोट मिले । फिर क्षणभरके लिये दूकानदार नोटोंकी ओर देखते रहे । फिर उन कार्डोंको ज्यों-के-त्यों समेटकर गद्दीके नीचे रख दिया ।

थोड़ी देर बाद वे किसान भाई आये। आवश्यक कपड़ा लिया। बिल बना। रुपये देनेके लिये उन भाईने जेबमें हाथ डाला और वे बिल्कुल सहम गये। उनके मुँहपर हवाइयाँ उड़ने लगीं।

दूकानदारने पूछा, 'क्यों, अचानक क्या हो गया?'

'कुछ नहीं, कुछ नहीं, मैं अभी आता हूँ' कहकर किसान भाई खड़े हो गये।

'पर क्या हो गया? बताइये तो सही। यों घड़ी-भरमें ही कैसे घबरा गये?' दूकानदारने उनको पकड़-कर बैठाते हुए कहा।

'मालूम होता है—जेबमें कहीं गिर गये हैं। मैं होटलमें चाय पीने गया था। वहाँ देख आऊँ।'

'कितने थे? और यों कैसे गिर गये?'

'भाई! थे तो सौ-सौके पूरे चौदह नोट। मूँगफली बेचकर उसके दाम लेकर सीधा ही कपड़ा खरीदने चला आया था।'

'याद कीजिये, कहीं घरपर ही तो नहीं छोड़ आये?'

'नहीं-नहीं, कार्ड और नोट दोनों इस जेबमें साथ ही रखे थे। कहीं पड़ गये लगता है। नसीबमें होंगे तो मिल जायँगे। परंतु शहरोंके आदमियोंकी तरह हम लोगोंमें सावचेती नहीं होती, इसीसे ऐसा हो जाता है।' यों कहकर वे पता लगानेके लिये होटलमें जानेको खड़े हो गये।

परंतु उसी समय दूकानदारने कार्ड खोलकर नोट दिखाये, पूरे चौदह नोट। किसान भाईके मुखपर मुसकान छा गयी—'हैं, इन कार्डोंमें ही ये नोट रह गये? यह तो आप इतने भले आदमी हैं; नहीं तो, ये नोट थोड़े ही वापस मिलते। मेरा तो जी ही उड़ गया था। भगवान् आपका भला करें।'

'भाई, चौदह नोट देखकर अवश्य ही मन ललचा जाता है, परंतु अनीतिसे आया हुआ या लिया हुआ बिना हकका पैसा ठहरता तो है ही नहीं, घरमें पैसा होता है तो उसको भी टानकर ले जाता है। नीतिसे मिली हुई हककी रोटी खानेसे जो सुख और संतोष मिलता है, वह इस तरहकी अनीतिकी रोटीसे नहीं मिल सकता।'

वे किसान भाई बिलके रुपये चुकाकर भारी उप-कारसे दबे बार-बार कृतज्ञता प्रकट करते हुए कपड़ा लेकर चले गये। खोयी हुई वस्तु मिलनेपर जैसा आनन्द होता है, उसी आनन्दकी रेखा उनके मुखपर उमड़ रही थी। दूकानदारने भी यह देखकर अपने हृदयमें बड़े आनन्दका अनुभव किया। (अखण्ड आनन्द)

—सवाईलाल वड़ोदरिया

(३)

श्रीहनुमान्‌जीकी कृपा

घटना गत अक्षय नवमीकी है। सीतामऊ (म० प्र०) में मगन तेलीका लड़का मोहनलाल जिसकी आयु लगभग २४-२५ वर्षकी है, लंबे समयसे बीमार था। उसे पहले मोतीझरा ज्वर हुआ था। उसके पश्चात् दिनोंदिन उसकी स्थिति बिगड़ती चली गयी। सारे उपचार तथा प्रयत्न निरर्थक सिद्ध हुए। वह आठ-नौ महीनेसे पागलोंकी-सी चेष्टा करने लगा था और उसकी वाणी तो बिलकुल ही बंद हो गयी थी। ऐसी स्थितिमें भी वह प्रतिदिन गाँवके बाहर शौचादि कार्यसे निवृत्त होनेके लिये दिन चढ़नेपर जाया करता था; किंतु गत अक्षय नवमीके दिन अकस्मात् प्रातः चार बजे उसकी नींद टूट गयी। वह लगभग पाँच बजे घरसे चल दिया। गाँवके बाहर श्रीहनुमान्‌जीके मन्दिरके प्राङ्गणके बाहर, जहाँ लोहेके तार खिंचे हैं, ज्यों ही वह अन्तिम छोरके एक खंभेके पास पहुँचा कि उसे लगभग १२-१३ वर्षकी आयुका एक बालक सफेद वस्त्र पहने हुए सामनेकी ओरसे आता दिखायी दिया।

पास आते ही उस बालकने उसे ठहरनेका संकेत करके कहा कि 'तुम घबराना मत।' इसके पश्चात् पृथ्वीकी ओर झुकते हुए किसी वस्तुके उठानेका-सा अभिनय करते हुए 'इसे खा जाओ' यह कहकर उसने उस तेलीकी हथेलीपर मिट्टी-जैसी कोई वस्तु रख दी। जिसे वह खा गया। वस्तु उसे बड़ी स्वादिष्ट और अच्छी लगी।

इसके पश्चात् उस बालकने प्रथम आकाशकी ओर

देखते हुए मोहनका मुख ऊँचा करवाकर उसके गलेपर हाथ फिराते हुए कहा 'बोलो राम'। इतना सुनते ही आश्चर्यकी बात यह हुई कि जिस मोहनकी वाणी आठ-नौ माससे बंद थी, उसके मुखसे सहसा स्पष्ट शब्दोंमें 'राम' शब्द निकल गया। ऐसा उस बालकने तीन बार करवाया और तीनों ही बार उस तेली युवकके मुखसे 'राम' शब्दका उच्चारण हो गया।

अब उसने मोहनसे कहा—'तुम ऊपर आकाशकी ओर देखो।' ऊपर देखकर ज्यों ही उसने सामने नीचेकी ओर देखा तो उस बालकका पता नहीं। उसने तत्काल इधर-उधर आसपास चारों ओर ढूँढ़ा पर उसका कहीं कोई पता नहीं लगा।

बस, उसी समयसे वह रुग्ण युवक, जो इतने दिनोंसे पागलकी-सी स्थितिमें था और जिसकी वाणी बंद थी, पूर्ण स्वस्थ और सयाना हो गया तथा साफ-साफ बोलने लगा।

जब इस घटनाकी सूचना सीतामऊके महाराजा साहब श्रीमन्त सर रामसिंहजी महोदयको मिली, तब उन्होंने भी इसकी जाँच करवायी और इसे सर्वथा सत्य जानकर बड़ा आश्चर्य और प्रसन्नता प्रकट की।

जनताका अनुमान है कि यह उसकी हनुमान्जीकी भक्ति तथा रामनाम-जपका फल है *।

—शितिकण्ठ शास्त्री

(४)

भूखा भूख मिटाता है

बस आनेमें अभी दस मिनटकी देर थी। पू० विनोबाजीके भाषणसे प्रभावित हुए हम चार-पाँच मित्र प्रेम, मानवता, करुणा आदि शब्दोंपर चर्चा करनेमें इतने तल्लीन हो रहे थे कि आस-पास क्या हो रहा है, इसका भी कुछ पता नहीं था।

सहसा हृदयको मानो चीर डालेगी, ऐसी करुण आवाज सुनायी दी। हमने चौंककर पीछे देखा। धँसी हुई तेजहीन आँखें, झुर्रियाँ पड़े चेहरेपर बढ़ी दाढ़ी, हड्डियाँ गिनी जा सके, ऐसा दुबला शरीर, देहपर फटे-टूटे चिथड़े डाले लगभग साठ वर्षका एक बूढ़ा हमारी ओर दौड़ा आ रहा था। होहल्ला मचाती बालकोंकी टोली उसे हैरान कर रही थी।

'मैं पागल नहीं हूँ, चोर नहीं हूँ, भगवान्के नामपर मुझे मारो मत। मैं गरीब हूँ, दुखी हूँ, दो दिनोंका भूखा हूँ।' करुणाकी चर्चा करते हुए हम उसकी ओर देखते रह गये! 'हाय राम! भगवान्के नामपर इस भूखेको कुछ टुकड़े दो।'

आँसू भरी इस आहपूर्ण वेदनाको सुननेको कोई तैयार न हुआ। अपने सुखीपनमें रचे-पचे सभ्य समाजके प्रतिष्ठित लोग उसे धमका रहे थे। 'गोल्ड फ्लैक' (सिगरेट) सुलगाते हुए एक भाई बोल उठे—'चला जा! पता नहीं, ऐसे कितने ढोंगी-फरेबी चले आते होंगे। हरामकी हड्डी हो गयी। आगे चल, दुर्गन्ध आ रही है।'

हम चार-पाँच मित्र इकट्ठे करके उस वृद्धको कुछ देनेकी तैयारी कर रहे थे। इतनेमें ही बगलके खोमचेवालेके हृदयमें राम जाग उठा। पावरोटीके दो बड़े-बड़े टुकड़े देते हुए उसने प्रेमसे कहा—'लो बाबा, यह खा लो।'

काँपते हाथों उस वृद्धने पावरोटी खाना शुरू किया। चार-पाँच ग्रास खाये होंगे कि 'ओ मा' पुकारता हुआ एक आठ-नौ वर्षका पंगु बालक नंगे बदन आँसू भरी आँखोंसे कुछ माँगने आ गया। उसे कुछ देनेकी बात तो दूर रही; किसीने उसकी ओर ताका ही नहीं। कुछ आशासे करुण चेहरा किये वह बच्चा उस वृद्धके पास खड़ा रहा। उसने उस बच्चेसे बड़ी मिठासके साथ कहा—'अरे भूखा है? बोलता क्यों नहीं? ले···· खा····।' यों कहकर मंद-मंद हँसते हुए उस बूढ़ेने पावरोटीका एक टुकड़ा उस बच्चेको दे दिया। उसके चेहरेपर आत्मसंतोषकी रेखाएँ स्पष्टरूपसे अङ्कित हो गयीं।

* श्रीकेदारनाथजी शर्माने भी इसी घटनाको कुछ शब्दान्तरसे लिखकर भेजा है।

मैं इस दृश्यको देखता ही रह गया । कैसा मौन उपदेश था । कैसा प्रेरक संदेश था । हम अघाये हुए होनेपर भी भूखेको कुछ खिलानेमें असमर्थ थे । उधर वह बूढ़ा स्वयं भूखा रहकर दूसरेकी भूख मिटा रहा था । उसके विशाल हृदयके सामने हमारा हृदय नितान्त नगण्य था । भौतिक क्षेत्रमें आगे बढ़े हुए हम आध्यात्मिक क्षेत्रमें बहुत पीछे थे । पर वह बूढ़ा तो आध्यात्मिक क्षेत्रमें बहुत आगे बढ़ चुका था ।

—चन्द्रकान्त बी० त्रिवेदी

(५)

लड़ाई नहीं, न्याय

कुछ वर्षों पहलेकी राजस्थानकी घटना है । हरीराम और चाँदमल दोनों सगे भाई थे । एक जमीनको लेकर आपसमें मतभेद हो गया । दोनोंने एक दिन आपसमें बात की- -'भाई ! मामला आपसमें तो निपटता नहीं। इससे हमलोग कचहरीमें दरख्वास्त दे दें । अपनी-अपनी बात हाकिमको सुना दें, फिर वह जो फैसला दें, उसीको मान लें।' दोनोंकी राय एक हो गयी । कोर्टमें दरख्वास्त दे दी गयी। दोनोंने परस्पर सलाह करके एक-एक वकील कर लिया और अपनी-अपनी बात वकीलोंको समझा दी। दोनों भाइयोंमें बड़ा मेल था । घरमें साथ ही खाकर परस्पर बरेलू चर्चा करते दोनों साथ ही कचहरीमें आते। दुपहरको खानेका सामान भी दोनोंका एक साथ लाते, साथ ही खाते । वकीलोंको भी अपनी-अपनी बात साथ ही समझाते। दोनों ही सच बोलते। उनके इस मामलेसे सभी चकित थे । द्वेष-लड़ाईकी तो कल्पना ही नहीं, केवल निपटारा कोर्टसे कराना चाहते थे । हाकिमने उनसे कहा—'आपलोगोंके बीचमें मैं क्या बोलूँ । जहाँ इतना प्रेम है ।' उन्होंने कहा—'इसीलिये तो आपके पास निपटाने आये हैं ।' हाकिम हैरान थे । आखिर हाकिमने उन दोमेंसे छोटे भाईको पञ्च बनाना चाहा । अपने ही मामलेमें आप ही पञ्च । उन्होंने कहा—'हाकिमका हुकुम हमें स्वीकार है।' पंचने पञ्चकी हैसियत-से दोनोंकी बातें सुनीं और अपने विरुद्ध बड़े भाईके पक्षमें फैसला दे दिया। अजब मामला था । —बिलासराय

(६)

अन्तरात्माकी आवाज

वर्षों पहलेकी बात है । सौराष्ट्रके एक छोटेसे गाँवमें हमारे पड़ोसमें एक ब्राह्मण सद्गृहस्थ रहते थे। वे पोरबंदर-गोशालाके लगान वसूलीका काम करते थे। इसलिये उन्हें कई बार इधर-उधर बाहर जाना पड़ता था।

एक बार वे कलकत्ते जा रहे थे । रास्तेमें दिल्ली-स्टेशनपर उतरते समय उनकी जेब कट गयी । इस बातको लगभग दस वर्ष बीत चुके । उनको इस घटना-की याद भी नहीं रही । इसी बीच एक दिन एक डाकिया तीस रुपयेका मनीआर्डर लेकर इनके घर पहुँचा। कहींसे मनीआर्डर आनेकी कल्पना ही नहीं थी । अतः इन्होंने समझा कि डाकियेकी भूल हुई होगी । पर जब इन्होंने फार्म लेकर उसकी कूपनपर लिखी बातें पढ़ीं, तब तो ये एकदम आश्चर्यमें डूब गये । उसमें लिखा था—

'बड़ी असहनीय परिस्थितियोंके कारण आपका पाकेट मेरे हाथ लगा था। उसे आज लगभग दस वर्ष हो चुके हैं । बहुत समयसे मेरी आत्माकी गहराईसे आवाज आ रही थी और मेरे दिलमें सदा शूल-सी चुभती रहती थी । आज उस पाकेटमें निकले हुए बीस रुपयोंके साथ दस रुपये और मिलाकर कुल तीस रुपये आपकी सेवामें भेजकर मैं आपके ऋणसे मुक्त होता हूँ (आपका पता मुझे पाकेटमें रखे एक कागजपर लिखा मिला था) ।'

अन्तरात्मासे सदा ही आवाज तो आया करती है, फिर चाहे मनुष्य उसे सुने या न सुने। (—अखण्ड आनन्द)

जे० जे० राजाणी

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष ३३

संवत् २०१५–२०१६ वि०

सन् १९५९ ई०

की

निबन्ध, कविता

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक–हनुमानप्रसाद पोद्दार] * [प्रकाशक–हनुमानप्रसाद पोद्दार

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे)
विदेशोंके लिये १०.०० [१५ शिलिंग] } प्रतिसंख्या .४५ (पैंतालीस नये पैसे)

'कल्याण'के तैंतीसवें वर्षकी विषय-सूची

कहानी

कुछ चित्रविषयक तथा घटना-सम्बन्धी और भावात्मक लेख-कविता

पद्य-सूची

संकलित पद्य-सूची

विशेषरूपसे लिखित और कुछ संकलित गद्य

चित्र

रंगीन चित्र

दुरंगा लाइनचित्र

इकरंगे चित्र

रेखा-चित्र

'मासिक-महाभारत' के ग्राहकोंसे निवेदन

दिसम्बर १९५९ का अङ्क निकल जानेपर 'मासिक-महाभारत' का चतुर्थ वर्ष पूर्ण हो जाता है। इस मासिक-पत्रको आगे चलाया जाय या नहीं; यह विषय अभी विचाराधीन है। अतएव ग्राहकोंसे निवेदन है कि वे दूसरी सूचना न मिलनेतक आगामी वर्षके लिये वार्षिक मूल्य न भेजें। व्यवस्थापक—'मासिक-महाभारत' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

'कल्याण'के पुराने प्राप्य विशेषाङ्क

२१ वें वर्षका संक्षिप्त मार्कण्डेयब्रह्मपुराणाङ्क—पृष्ठ ७२८, चित्र रंगीन १०; इकरंगा १, लाइन चित्र २८७, मोटे कागज, सजिल्द, मूल्य १०.०० ।

२२ वें वर्षका नारी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र २ सुनहरी, ९ रंगीन, ४४ इकरंगे तथा १९८ लाइन, मूल्य ६.२० नये पैसे, सजिल्द ७.४५ नये पैसे मात्र।

२४ वें वर्षका हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संग्रहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६.५० नये पैसे, साथमें अङ्क २-३ विना मूल्य ।

२५ वें वर्षका संक्षिप्त स्कन्द-पुराणाङ्क—पृष्ठ-संख्या १०७८, चित्र सुनहरी २, रंगीन १६, इकरंगे ४१, लाइन चित्र १२०, मोटे कागज, सजिल्द, मूल्य ११.२५ नये पैसे ।

२८ वें वर्षका संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ-संख्या १५२४, चित्र तिरंगे ३१, इकरंगे लाइन चित्र १९१ (फरमोंमें), मूल्य ७.५० नये पैसे, सजिल्द ८.७५ नये पैसे । इस वर्षके साधारण अङ्क ६ से ९ खतम हो गये हैं उसके बदलेमें २१ वें वर्षके अङ्क ९ से १२ दिये जाते हैं।

२९ वें वर्षका संतवाणी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, तिरंगे चित्र २२ तथा इकरंगे चित्र ४२, संतोंके सादे चित्र १४०, मूल्य ७.५० नये पैसे, सजिल्द ८.७५ नये पैसे ।

३० वें वर्षका सत्कथा-अङ्क—पृष्ठ ७०४, चित्र सुनहरी ३, रंगीन १३, दुरंगा १, इकरंगे ११६, मूल्य ६.५० नये पैसे।

३१ वें वर्षका तीर्थाङ्क—पृष्ठ-संख्या ७०४, चित्र रंगीन ३४, दुरंगा १, लाइन चित्र १, मानचित्र ८, सादे५३२, मू० ७.५० नये पैसे

३२ वें वर्षका भक्ति-अङ्क—जनवरी १९५८ का विशेषाङ्क, पूरी फाइलसहित, मूल्य सजिल्दका ८.७५ नये पैसे । इस वर्षका ६ ठा अङ्क समाप्त हो गया है बदलेमें २१ वें वर्षका १२ वाँ अङ्क दिया जाता है । डाक-खर्च सबमें हमारा होगा।

व्यवस्थापक—**कल्याण**, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याण-चित्रावलियाँ

ये चित्रावलियाँ 'कल्याण' तथा 'कल्याण-कल्पतरु'के बचे हुए चित्रोंसे बनायी जाती हैं।

नं० १—चित्र बहुरंगे २५, मूल्य १.३१ नये पैसे, डाकव्यय .९४ नये पैसे। नं० २—चित्र बहुरंगे २५, मूल्य १.३१ नये पैसे, डाकव्यय .९४ नये पैसे। नं० ३—चित्र बहुरंगे ३०, मूल्य १.३१ नये पैसे, डाकव्यय .९४ नये पैसे। नं० ४—चित्र बहुरंगे ८, इकरंगे १६, कुल २४, मूल्य .७५ नये पैसे, डाकव्यय .९४ नये पैसे। चारों चित्रावलियोंके लिये एक साथ मूल्य ४.६८ नये पैसे तथा डाक-व्यय रजिस्ट्रीखर्चसहित १.३२ नये पैसे, कुल ६.०० भेजना चाहिये।

पुस्तक-विक्रेताओंको इनमें भी अन्य पुस्तकोंकी तरह कमीशन तथा फ्री डिलेवरी आदिकी सुविधाएँ मिलती हैं।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस**, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीगीता-जयन्ती

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

'जो पुरुष सर्वत्र सबके सुख-दुःखको अपने सुख-दुःखके समान देखता है, वही, अर्जुन! मेरे मतसे श्रेष्ठ योगी है।'

आजके इस अत्यन्त संकीर्ण स्वार्थपूर्ण जगत्में दूसरेके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझनेकी शिक्षा देनेके साथ कर्तव्य-कर्मपर आरूढ़ करानेवाला और कहीं भी आसक्ति-ममता न रखकर केवल भगवत्सेवाके लिये ही यज्ञमय जीवन-यापन करनेकी सत्शिक्षा देनेवाला सार्वभौम ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता ही है। इसका विश्वमें जितना ही वास्तविक रूपमें अधिक प्रचार होगा, उतना ही वह सच्चे सुख-शान्तिकी ओर आगे बढ़ सकेगा।

इस वर्ष मार्गशीर्ष शुक्ला ११ बृहस्पतिवार दिनाङ्क १० दिसम्बर १९५९ ई० को श्रीगीताजयन्तीका महापर्व-दिवस है। इस पर्वपर जनतामें गीताप्रचारके साथ ही श्रीगीताके अध्ययन—गीताकी शिक्षाको जीवनमें उतारनेकी स्थायी योजना बननी चाहिये। आजके किंकर्तव्यविमूढ़ मोहग्रस्त मानवके लिये इसकी बड़ी आवश्यकता है। इस पर्वके उपलक्ष्यमें श्रीगीतामाता तथा गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्णका शुभाशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य यथासाध्य और यथासम्भव देशभरमें सभी छोटे-बड़े स्थानोंमें अवश्य करने चाहिये—

(१) गीता-ग्रन्थका पूजन।

(२) गीताके महान् वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासका पूजन।

(३) गीताका यथासाध्य व्यक्तिगत और सामूहिक पारायण।

(४) गीतातत्त्वको समझने-समझानेके लिये, गीता-प्रचारके लिये, समस्त विश्वको दिव्य ज्ञानचक्षु देकर सबको निष्काम भावसे कर्तव्यपरायण बनानेकी महान शिक्षाके परम-पुण्य दिवसका स्मृति-महोत्सव मनानेके लिये सभाएँ, प्रवचन, व्याख्यान आदिका आयोजन, भगवन्नाम-संकीर्तन आदि।

(५) महाविद्यालयों और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान, गीतापरीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओंको पुरस्कार-वितरण।

(६) प्रत्येक मन्दिर, देवस्थान, धर्मस्थानमें गीताकथा तथा अपने-अपने इष्ट भगवान्का विशेषरूपसे पूजन।

(७) जहाँ किसी प्रकारकी अड़चन न हो, वहाँ श्रीगीताजीकी शोभायात्रा।

(८) सम्मान्य लेखक और कवि महोदय गीतासम्बन्धी लेखों और सुन्दर कविताओंके द्वारा गीता-प्रचार करें।

सम्पादक—'कल्याण'

दिनाङ्क १ नवम्बर १९५९ से गीताप्रेसकी पुस्तकोंके दामोंका नये पैसोंमें परिवर्तन

पुस्तक-विक्रेताओं और ग्राहकोंकी सेवामें निवेदन है कि गीताप्रेसकी पुस्तकोंपर पुराने सिक्कोंमें छपे हुए दामोंको अबसे नये पैसोंमें इस प्रकार परिवर्तित कर दिया गया है—

पुराने आधे पैसेका नया एक पैसा, पुराने एकका नया दो, दोका तीन, तीनका पाँच, एक आनेका नये छः पैसे, सवा आनेका आठ, डेढ़ आनेका दस, दो आनेका बारह, ढाई आनेका सोलह, तीन आनेका बीस, साढ़े तीन आनेका बाईस, चार आनेका पचीस, पाँच आनेका इकतीस, छः आनेका सैंतीस, सात आनेका पैंतालीस, आठ आनेका पचास, नौ आनेका छप्पन, दस आनेका बासठ, ग्यारह आनेका सत्तर, बारह आनेका पचहत्तर, तेरह आनेका इक्यासी, चौदह आनेका सतासी और पंद्रह आनेका पंचानवे नया पैसा किया गया है।

गीता-दैनन्दिनी सन् १९६०

इसकी एक लाख प्रतियाँ छापी गयी थीं। जिनमेंसे यहाँ केवल दस हजारके लगभग बची हैं। माँग अधिक आ रही है परंतु विशेषाङ्ककी छपाईके कारण अभी दूसरे संस्करणका कोई विचार नहीं है।

ग्राहकोंसे निवेदन है कि यहाँ आर्डर भेजनेसे पहले हमारी निजी दूकानों एवं स्थानीय विक्रेताओंके पास जो दैनन्दिनियाँ बची हों, उन्हें ही प्राप्त करनेकी चेष्टा करेंगे। इससे आप भारी डाक-व्ययसे बच सकेंगे एवं और भी सुविधा होगी।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

'कल्याण'के सभी ग्राहकों और पाठकोंको सूचना तथा उनसे प्रार्थना

इस अङ्कके साथ 'कल्याण'का ३३ वाँ वर्ष पूरा हो रहा है । यह बारहवाँ अङ्क इस वर्षकी अन्तिम संख्या है । आपलोगोंने इतने कालसे 'कल्याण'के साथ अपना हार्दिक सम्पर्क सुदृढ़रूपसे सुरक्षित रखा, इसके लिये सारा 'कल्याण'परिवार आपका कृतज्ञ है ।

(१) इस संख्याके साथ इस वर्षका मूल्य समाप्त हो जाता है । इसके बाद चौंतीसवें वर्षका प्रथम अङ्क 'संक्षिप्त-देवीभागवताङ्क' (विशेषाङ्क) होगा । इसमें भगवान्की अभिन्नस्वरूपा परात्परा भगवती महाशक्तिके विविध स्वरूपों, लीलाओं, महान् कार्योंका तथा विविध उपासना-पद्धतियोंका एवं तत्त्वज्ञान, योग, भक्ति आदिका बड़ा ही तात्त्विक, रोचक और जीवनमें मार्गदर्शक वर्णन रहेगा । रंगीन, सादे और रेखाचित्र भी बहुत-से होंगे । भगवती दुर्गाके विभिन्न रूपोंके, साथ ही भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराम, भगवान् विष्णु एवं भगवान् शंकर आदिके सुन्दर चित्र भी होंगे । लगभग सात सौ पृष्ठोंका यह सुन्दर अङ्क होगा ।

(२) यह अङ्क सभी दृष्टियोंसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होनेके कारण, ऐसी आशा की जाती है कि, इसकी माँग बहुत अधिक होगी । अतएव ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) मनीआर्डरद्वारा पहले ही भेजकर जो स्थायी ग्राहक नहीं बन जायँगे, उनको सम्भवतः अङ्क मिलनेमें कठिनाई हो सकती है । इसलिये जिन महानुभावोंने मूल्यके ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) अभी नहीं भेजे हैं, वे तुरंत भेजकर ग्राहक बन जानेकी कृपा करें । रुपये भेजते समय मनीआर्डरके कूपनमें 'ग्राहक-संख्या' जरूर लिख दें । नाम, पता, ग्राम या मुहल्लेका नाम, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि बड़े-बड़े साफ अक्षरोंमें अवश्य लिखें । नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' अवश्य लिखनेकी कृपा करें ।

(३) 'ग्राहक-संख्या' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जाना सम्भव है । इससे विशेषाङ्क नये नम्बरोंसे चला जायगा और पुराने नम्बरोंसे वी० पी० द्वारा अङ्क दुबारा जायगा । यह भी सम्भव है कि आप उधरसे रुपये कुछ देरसे भेजें और उनके यहाँ पहुँचनेसे पहले ही यहाँसे आपके नाम वी० पी० चली जाय । दोनों ही स्थितियोंमें आप कृपापूर्वक वी० पी० वापस न लौटाकर नये ग्राहक बना दें और उनका नाम-पता साफ-साफ लिखनेकी कृपा करें । ऐसा करके आप अपने कल्याण-कार्यालयको व्यर्थकी हानिसे बचायेंगे ।

(४) सभी ग्राहक-पाठक महानुभावोंसे तथा ग्राहिका देवियोंसे निवेदन है कि वे प्रयत्न करके 'कल्याण'के दो-दो नये ग्राहक बनाकर उनके रुपये मनीआर्डरद्वारा शीघ्र भिजवानेकी कृपा करें । इससे उनके 'कल्याण'के प्रचार-प्रसारमें बड़ी सहायता मिलेगी और वे एक महान् पुण्यके भागी होंगे ।

(५) जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें, जिससे व्यर्थ ही 'कल्याण'-कार्यालयको डाकखर्चकी हानि न सहनी पड़े ।

(६) जिनको सजिल्द अङ्क लेना हो वे १.२५ (एक रुपया पचीस नये पैसे) अधिक यानी आठ रुपये पचहत्तर नये पैसे भेजें । परंतु यह ध्यान रहे कि सजिल्द अङ्क चार-छः सप्ताह बाद भेजा जाना सम्भव है ।

रजि० सं० [illegible]

(७) किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो विशेषाङ्क और उसके बाद जितने अङ्क छूट जायँ, उन्हींमें पूरे वर्षका मूल्य समाप्त हुआ समझ लेना चाहिये, क्योंकि अकेले 'विशेषाङ्क' का मूल्य ही ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) है।

(८) गीताप्रेसका 'पुस्तक-विभाग' तथा 'महाभारत-(मासिक) विभाग' 'कल्याण' विभागसे पृथक् है। इसलिये 'कल्याण'के मूल्यके साथ पुस्तकोंके तथा महाभारतके लिये रुपये कृपया न भेजें और पुस्तकोंके तथा 'महाभारत'के लिये आर्डर भी 'मैनेजर, गीताप्रेस' और 'मैनेजर, महाभारत-विभाग' गीताप्रेसके नामसे अलग भेजें। व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस, गोरखपुर

सूचना

श्रीजयदयालजी गोयन्दका ऋषिकेश, गीताभवनकी तरह मार्गशीर्ष कृष्ण ६ शनिवार दि० २१ नवम्बरको सत्सङ्ग, तीर्थसेवन एवं एकान्तवासकी दृष्टिसे करीब २ महीनेके लिये चित्रकूट पहुँच गये हैं। सत्सङ्गके लिये वहाँ जानेवाले भाइयोंको गहने आदि जोखिमकी कोई चीज साथ नहीं ले जानी चाहिये। बच्चोंको भी वे ही भाई साथ लायें, जो उन्हें डेरेपर रखनेका प्रबन्ध कर सकते हों। भोजन बनाने आदिके बर्तन भी साथ ही लाने चाहिये। रहनेके स्थान, नौकर, खाद्य-पदार्थ एवं दूध आदिका प्रबन्ध भी आनेवाले भाइयोंको स्वयं ही करना चाहिये; क्योंकि गीताभवन, स्वर्गाश्रम, ऋषिकेशकी तरह वहाँपर मकान एवं सामान आदिकी व्यवस्था नहीं है।

श्रीगोयन्दकाजी चित्रकूटमें एकान्तवास तथा सत्सङ्गकी दृष्टिसे गये हैं, इसलिये विशेष आवश्यकता होनेपर ही उनके नाम पत्र देना चाहिये तथा उत्तर न मिले या देरसे मिले तो किसी तरहका मनमें विचार नहीं करना चाहिये।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर